विश्वभारती पत्रिका

साहित्य और संस्कृति संबंधी हिन्दी त्रैमासिक





सत्यं ह्येकम्। पन्थाः पुनरस्य नैकः।

अथेयं विश्वभारती। यत्र विश्वं भवत्येकनीड़म्। प्रयोजनम् अस्याः समासतो व्याख्यास्यामः। एष नः प्रत्ययः—सत्यं ह्येकम्। पन्थाः पुनरस्यः नैकः। विचित्रैरेव हि पथिभिः पुरुषा नैकदेशवासिन एकं तीर्थमुपासर्पन्ति—इति हि विज्ञायते। प्राची च प्रतीची चेति द्वे धारे विद्यायाः। द्वाभ्यामप्येताभ्याम् उपलब्धव्यमैक्यं सत्यस्याखिललोकाश्रयभूतस्य—इति नः संकल्पः। एतस्यैवैक्यस्य उपलब्धिः परमो लाभः, परमा शान्तिः, परमं च कल्याणं पुरुषस्य इति हि वयं विजानीमः। सेयमुपासनीया नो विश्वभारती विविधदेशग्रथिताभिर्विचित्रविद्याकुसुममालिकाभिरिति हि प्राच्याश्च प्रतीच्याश्चेति सर्वेऽप्युपासकाः सादरमाहूयन्ते।

विश्वभारती पत्रिका, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन के तत्त्वावधान में प्रकाशित होती है। इसलिए इसके उद्देश्य वे ही हैं जो विश्वभारती के हैं। किन्तु इसका कर्मक्षेत्र यहीं तक सीमित नहीं। संपादक-मंडल उन सभी विद्वानों और कलाकारों का सहयोग आमंत्रित करता है जिनकी रचनायें और कलाकृतियाँ जाति-धर्म-निर्विशेष समस्त मानव जाति की कल्याण-बुद्धि से प्रेरित हैं और समूची मानवीय संस्कृति को समृद्ध करती हैं। इसीलिए किसी विशेष मत या वाद के प्रति मण्डल का पक्षपात नहीं है। लेखकों के विचार-स्वातंत्र्य का मण्डल आदर करता है परन्तु किसी व्यक्तिगत मत के लिए अपने को उत्तरदायी नहीं मानता।

लेख, समीक्षार्थ पुस्तकें तथा पत्रिका से संबंधित समस्त पत्र व्यवहार करने का पता :—

संपादक, 'विश्वभारती पत्रिका',

हिन्दी भवन, शान्तिनिकेतन, बंगाल।

विश्वभारती पत्रिका

पौष-फाल्गुन २०२४ | खण्ड ८, अंक ४ | जनवरी-मार्च १९६८

विषय-सूची

इस अंक के लेखक, कलाकार (अकारादि क्रम से)

अ० पेरुमल, अध्यापक, कलाभवन, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन।

ङिछमेद रिगडजिन लामा, अध्यक्ष, इण्डोटीबेटन स्टडीज विभाग, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन।

दिनकर कौशिक, अध्यक्ष, कला-भवन, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन।

द्विजराम यादव, रिसर्च स्कालर, हिन्दी-भवन, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन।

पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु' अध्यापक, मुंगेर कालेज, मुंगेर।

महेन्द्र भटनागर, अध्यक्ष, हिंदी-विभाग, गवर्मेंट कालेज, महू, मध्य प्रदेश।

यज्ञेश्वर शुक्ल, अध्यक्ष, कलाविभाग, वनस्थली विद्यापीठ, वनस्थली, राजस्थान।

राजेन्द्र मिश्र, अध्यापक, संस्कृत-विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग।

रामसिंह तोमर, अध्यक्ष, हिन्दी भवन, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन।

वारीन्द्रकुमार वर्मा, सीनियर रिसर्च फेलो, सेण्टर आफ एडवांस्ड स्टडीज इन फिलासफी, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन।

विकासचन्द्र सिन्हा, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, टी० एन० बी० कालेज, भागलपुर।

विश्वरूप बसु, अध्यापक, कलाभवन, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन।

श्रीमन्नारायण द्विवेदी, अध्यापक, एग्रीकल्चरल इन्स्टिट्यूट, नैनी, इलाहाबाद।

हेम भटनागर, अध्यक्ष, हिंदी विभाग, जानकी देवी महाविद्यालय, दिल्ली यूनिवर्सिटी, दिल्ली।



महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर

विश्वभारती पत्रिका

पौष-फाल्गुन २०२४ खण्ड ८, अंक ४ जनवरी-मार्च १९६८

सामञ्जस्य

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

पूर्ण मनुष्यत्व की सर्वाङ्गीण आकांक्षा लेकर इस देश में राममोहन राय का आविर्भाव हुआ था। भारतवर्ष में उन्होंने किसी नवीन धर्म की सृष्टि की थी सो नहीं है। भारतवर्ष में जहाँ धर्म के बीच परिपूर्णता का रूप चिरकाल से था, जहाँ बृहत् सामञ्जस्य था, जहाँ शान्तं शिवं अद्वैतं था वहाँ का सिंहद्वार उन्होंने सर्वसाधारण के लिए उद्घाटित कर दिया।

सत्य की इस परिपूर्णता को, इस सामञ्जस्य को प्राप्त करने की क्षुधा कैसी प्रबल होती है, और उसको अपने भीतर किस प्रकार ग्रहण और व्यक्त किया जाता है महर्षि देवेन्द्रनाथ के समस्त जीवन में वही प्रकाशित हुआ है।

अपनी स्नेहमयी पितामही की मृत्यु के शाक के आघात से महर्षि को धर्मजीवन के प्रथम जाग्रत होने पर जिस तड़पन का अनुभव हुआ था उसमें एक विस्मयकर विशेषत्व दिखता है।

शिशु जब खेलने के लिए रोता है तब पास में जो कोई भी खिलौना रहता है वही देकर उसे भुला रखना सहज है किन्तु जब वह माता के दूध के लिए रोता है तब उसे और कुछ देकर भुला रखना संभव नहीं है। जो व्यक्ति अपने एक विशेष हृदयावेग को किसी वस्तु पर प्रयोग करने का क्षेत्रमात्र चाहता है उसको अटका कर रखने के लिए जगत् में बहुत सी वस्तुएँ हैं—किन्तु जिसका केवलमात्र भावसंभोग ही लक्ष्य नहीं है, जो सत्य चाहता है, वह भूलना नहीं चाहता, वह पाना चाहता है। फलस्वरूप सत्य कहाँ मिलेगा इसकी खोज में उसे साधना के पथ पर निकलना ही पड़ेगा—उसमें बाधा हों, दुख हों, उसमें देर हो, उससे आत्मीयजन विरोधी हो जांय, समाज द्वारा आघातों की वर्षा होती रहे—किन्तु चारा नहीं है, उसे सब कुछ स्वीकार करना पड़ेगा।

यह जो सत्य को प्राप्त करने की इच्छा है यह केवल जिज्ञासामात्र नहीं है, केवल ज्ञान में पाने की इच्छा नहीं है—इसमें हृदय की दुःसह व्याकुलता है, उनकी वेदना सत्य को केवल ज्ञान रूप में नहीं आनन्दरूप में पाने की थी। यहाँ उनकी प्रकृति स्वभावत ही एक सम्पूर्ण सामञ्जस्य को चाह रही थी। हमारे देश में एक समय कहा गया था कि ब्रह्मसाधना के क्षेत्र में भक्ति का स्थान नहीं है और भक्तिसाधना के क्षेत्र में ब्रह्म को स्थान नहीं है, किन्तु महर्षि ने ब्रह्म को ज्ञान और भक्ति में देखा था, अर्थात् समस्त प्रकृति के बीच सम्पूर्ण रूप में उनको देखा था—इसी कारण क्रमागत नाना कष्ट, नाना चेष्टा, नाना ग्रहणवर्जन में से होकर जाते हुए जब तक उनका चित्त अपने अमृतमय ब्रह्म, अपने आनन्द के ब्रह्म में जाकर नहीं पहुँचा तब तक एक मुहूर्त के लिए भी वे रुक नहीं सके।

इसी कारण उनके जीवन में ब्रह्मज्ञान ने जो एक विशेषत्व प्राप्त किया था वह यह था कि उस ज्ञान को सर्वसाधारण के पास न पहुँचाने तक वे क्षान्त नहीं हुए।

ज्ञानी का ब्रह्मज्ञान केवल ज्ञान की परिधि में ही बद्ध रहता है। यही कारण है कि इस देश के लोग प्राय यह कहते आए हैं—ब्रह्मज्ञान का प्रचार क्या !

किन्तु ब्रह्म की जिन्होंने हृदय के द्वारा उपलब्धि की है वे यह बात समझ गए हैं कि ब्रह्म को पाया जा सकता है, हृदय में प्रत्यक्ष पाया जा सकता है—केवल ज्ञान से जाना जा सकता है ऐसा नहीं है, रस में पाया जा सकता है, क्योंकि समस्त रसों के सार हैं—रसो वै स । जिन्होंने हृदय के द्वारा ब्रह्म को पाया है वे उपनिषद् के इस महावाक्य का अर्थ समझे हैं—

यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन।

जिस समय ज्ञान उनको पाना चाहता है एवं वाक्य प्रकाश करना चाहता है तब बार-बार लौट लौट आता है किन्तु आनन्द के द्वारा जब उस आनन्द का मिलन होता है उस समय उस प्रत्यक्ष मिलन में समस्त भय, समस्त संशय दूर हो जाते हैं।

आनन्द के द्वारा समस्त बोधों की परिपूर्णता, मन और हृदय के ज्ञान और भक्ति का अखण्ड मिलन होता है।

जब आनन्द जगता है तब वह सबका आह्वान करता है—वह सीमा के भीतर अपने को लेकर स्वयं रुद्ध होकर बैठा नहीं रह सकता। वह यह बात किसी से नहीं कहता कि तुम दुर्बल हो, तुम्हारी सामर्थ्य नहीं है, क्योंकि आनन्द के लिए कोई कठिनाई नहीं है—आनन्द उस आनन्द के धन को इतना एकान्त समझता है, इतने गभीर भाव से देखता है कि वह

उसको दुष्प्राप्य कहकर किसी भी व्यक्ति को वँचित नहीं करना चाहता—पथ कितना ही लंबा, कितना ही दुर्गम क्यों न हो इस परमलाभ के लिए वह कुछ भी नहीं है।

इसी कारण धरती पर आजतक जिन किन्हीं महात्मा ने आनन्द द्वारा उनको प्राप्त किया है वे विश्वजन के लिए अमृतभण्डार का द्वार खोल देने के लिए खड़े हुए हैं—और जो केवलमात्र ज्ञान या केवलमात्र आचार में ही निविष्ट हैं वे भेदविभेद के द्वारा पग-पग पर मनुष्य के परस्पर मिलन के उदार क्षेत्र को बिल्कुल कण्टकाकीर्ण कर देते हैं। वे सब केवल न-का ओर से ही देखते हैं, हाँ-की ओर से नहीं। इसी कारण उनका भरोसा नहीं है, मनुष्य के प्रति उनकी श्रद्धा नहीं है और ब्रह्म को भी वे निरतिशय शून्यता के बीच निर्वासित करके रख देते हैं।

महर्षि देवेन्द्रनाथ के चित्त में जब धर्म की व्याकुलता प्रबल हुई तो वे अनन्त नेति नेति को लेकर परितृप्त नहीं हो सके, यह आश्चर्य का विषय नहीं है, किन्तु उस व्याकुलता के वेग में समाज और परिवार के चिर संस्कारगत अभ्यस्त मार्ग में अपने व्यथित हृदय को समर्पित करके अपने रुदन को रोक कर रखने की किसी प्रकार की चेष्टा नहीं की, यही विस्मय का विषय है। वे किसे चाहते हैं यह अच्छी तरह जानने के पहले ही उन्होंने उन्हीं को चाहा था, जिनका ज्ञान चिरकाल से जानना चाहता रहा है और प्रेम जिनको चिरकाल से पाता आ रहा है।

इसीलिए जीवन के भीतर उन्होंने उस ब्रह्म को ग्रहण किया, परिमित पदार्थ के समान जिनको पाया नहीं जा सकता और शून्य पदार्थ की भाँति जिनको नहीं प्राप्त नहीं किया जा सकता—जिनको पाने के लिए एक ओर ज्ञान को खर्व नहीं करना पड़ता, दूसरी ओर प्रेम को उपवास कराकर मारना नहीं होता—जो वस्तुविशेष के द्वारा निर्दिष्ट नहीं हैं अथवा वस्तु-शून्यता के द्वारा अनिर्दिष्ट नहीं हैं, जिनके विषय में उपनिषद् ने कहा है कि जो कहता है कि मैं उनको जानता हूँ वह भी उनको नहीं जानता, जो कहता है कि मैं नहीं जानता वह भा उनको नहीं जानता। एक शब्द में उनकी साधना परिपूर्ण सामंजस्य की साधना थी।

जिन्होंने महर्षि की जीवनी पढ़ी है उन सबने देखा होगा कि भगवत्पिपासा जब उनमें पहले जाग्रत हुई तब उनके हृदय को किस प्रकार की दुःसह वेदना से तरंगित कर दिया था। फिर भी वे जब ब्रह्मानंद का रसास्वाद करने लगे तब उनको उद्दाम भावोन्माद में आत्मविस्मृत नहीं कर दिया। क्योंकि उन्होंने जिनको जीवन में प्रतिष्ठित किया था वे शान्तं शिवं अद्वैतं—अपने भीतर समस्त शक्ति, समस्त ज्ञान, समस्त प्रेम, अतलस्पर्शी परिपूर्णता से युक्त हैं। उनके भीतर विश्वचराचर शक्ति और सौंदर्यरूप में नित्यनिरंतर तरंगित हो रहा है—वह तरंग समुद्र को छोड़कर चली नहीं जाती और समुद्र उस तरंग के द्वारा स्वयं को उद्वेलित नहीं

कर डालता। उसमें अनन्त शक्ति है इसीसे शक्ति का सयम ऐसा अटल है, अनन्त रस है इसीसे रस का गांभीर्य ऐसा अपरिमेय है।

इस शक्ति के सयम में, इस रस के गांभीर्य में महर्षि ने सदा अपने को धारण करके रखा क्योंकि उनकी साधना भूमा में ही आत्मा को उपलब्धि करने की थी। जो आध्यात्मिक असयम को ही आध्यात्मिक शक्ति का परिचय समझते हैं वे इस अविचलित शक्ति की अवस्था की दारिद्र् के रूप में कल्पना करते हैं, वे विपर्यस्त होकर प्रमत्तता में पड़ने को ही भक्ति की चरम अवस्था समझते हैं। किन्तु जिन्होंने महर्षि को निकट से देखा है, वस्तुत जिनको थोड़ा-सा भी उनका परिचय मिला है वे जानते हैं कि उनका प्रबल सयम और प्रशान्त गांभीर्य भक्तिरस की दीनता से उत्पन्न नहीं है। प्राचीन भारत के तपोवन के ऋषि जिस प्रकार उनके गुरु थे उसी प्रकार फारस के सौंदर्य-कुञ्ज के बुलबुल हाफिज उनके बन्धु थे। उनके जीवन के आनन्दप्रभात में उपनिषदों के श्लोक थे प्रभात का आलोक, और हाफिज की कविता थी प्रभात के गीत। हाफिज की कविता में वे अपने रसोच्छ्वास का संकेत पाते, उन्होंने अपने जीवनेश्वर को किस प्रकार निविड़ रसवेदनापूर्ण माधुर्यघन प्रेम के साथ अतर में तथा बाहर देखा था इस बात को अधिक विस्तार से कहने की आवश्यकता नहीं है।

ऐकान्तिक ज्ञान की साधना जिस प्रकार शुष्क वैराग्य लाती है, उसी प्रकार ऐकान्तिक रस की साधना भी भावविह्वलता का वैराग्य लेकर आती है। उस अवस्था में केवल रस के नशे में आविष्ट बने रहने की इच्छा होती है, अन्य सब के प्रति एकान्त वितृष्णा उत्पन्न होती है और कर्म का बन्धनमात्र असह्य प्रतीत होता है। अर्थात् मनुष्यत्व की केवलमात्र एक दिशा के अत्यन्त प्रबल हो उठने से अन्य समस्त दिशाएँ बिल्कुल रिक्त हो जाती हैं, ऐसी अवस्था में हम भगवान् की उपासना के केवलमात्र एक अश को अत्युग्र कर देते हैं और अन्य सब ओर से उसको शून्य बनाए रखते हैं।

भगवत्प्राप्ति के लिए एकान्त व्याकुलता के रहते हुए भी ऐसा सामजस्यरहित वैराग्य महर्षि के चित्त पर कभी अधिकार नहीं कर सका। उन्होंने ससार का त्याग नहीं किया, ससार के सुर को भगवान् की भक्ति में मिला रखा था। सबको ईश्वर द्वारा आच्छन्न देखो—उपनिषद् के इस उपदेशवाक्य के अनुसार उन्होंने ससार के अपने विचित्र सबध और विचित्र कर्म को ईश्वर द्वारा परिव्याप्त करके देखने की तपस्या की थी। केवल अपना परिवार ही नहीं जनसमाज के भीतर भी ब्रह्म की उपलब्धि करने के लिए समस्त विघ्न दूर करने के लिए उन्होंने आजीवन चेष्टा की। इसीलिए इस शान्तिनिकेतन का विशाल प्रान्तर हो या हिमालय का निभृत गिरिशिखर ही हो, निर्जन साधना में उनको बाँधकर नहीं रख सका। उनका ब्रह्म अकेले का

ब्रह्म नहीं है, उनका ब्रह्म केवल ज्ञानी का ब्रह्म नहीं है, केवल भक्त का ब्रह्म नहीं है, उनका ब्रह्म निखिल का ब्रह्म है, निर्जन में उसका ध्यान, जनसमुदाय में उसकी सेवा, अन्तर में उसका स्मरण, बाहर उसका अनुसरण, ज्ञान के द्वारा उसके तत्त्व की उपलब्धि, हृदय के द्वारा उसके प्रति प्रेम, चरित्र के द्वारा उसके प्रति निष्ठा एवं कर्म के द्वारा उसके प्रति आत्मनिवेदन होगा। यह परिपूर्ण-स्वरूप जो ब्रह्म है, सर्वांङ्गीण मनुष्यत्व के परिपूर्ण उत्कर्ष के द्वारा ही हम उसके साथ युक्त हो सकते हैं—उनकी यथार्थ साधना है, उनके माध्यम से सबके साथ युक्त होना और सबके माध्यम से उनके साथ युक्त होना है—देह-मन हृदय की समस्त शक्ति द्वारा ही उनकी उपलब्धि करना एवं उनकी उपलब्धि के द्वारा देह-मन हृदय की समस्त शक्ति को बलशाली करना—अर्थात् परिपूर्ण सामञ्जस्य के पथ को अपनाना है। महर्षि ने अपनी व्याकुलता के द्वारा इस संपूर्णता को ही देखा था और अपने जीवन द्वारा इसका ही निर्देश किया था।

ब्रह्म की उपासना किसे कहते हैं—इसके विषय में उन्होंने कहा है—तस्मिन् प्रीतिस्तस्य प्रिय कार्यसाधनञ्च तदुपासनमेव—उसमें प्रीति करना एवं उनका प्रियकार्य साधन करना ही उनकी उपासना है। यह बात स्मरण रखनी होगी कि हमारे देश में इसके पहले उनके प्रति प्रीति एवं उनका प्रियकार्य साधन इन दोनों के बीच विच्छेद उत्पन्न हो गया था। अन्ततः प्रियकार्य शब्द के अर्थ को हम लोगों ने अत्यन्त संकीर्ण कर दिया था; व्यक्तिगत शुचिता एवं कुछ आचारपालन को ही हमने ईश्वर का प्रियकार्य समझ रखा था। कर्म जहाँ दुःसाध्य, जहाँ कठोर होता था; कर्म में जहाँ यथार्थ पौरुष की आवश्यकता होती थी, जहाँ बाधा के साथ संग्राम करना पड़े, जहाँ अमङ्गल के कण्टकतरु को रक्तात्क हाथों से समूल उत्पाटन करना पड़े, जहाँ अपमान, निन्दा निर्यातन स्वीकार करके प्राचीन परंपरा के स्थूल जड़त्व को कठिन दुःख सहकर, भेद कर जन समाज में कल्याण की प्रतिष्ठा करनी होती, उस दिशा में हमने देवता की उपासना को स्वीकार नहीं किया। दुर्बलतावशतः इस पूर्ण उपासना में हमारी अनास्था रही, और अनास्था थी इससे ही हमारी दुर्बलता आज तक बढ़ती ही रही है। भगवान् के प्रति प्रीति और उनके प्रियकार्य साधन के बीच हमारे चरित्र की मज्जागत दुर्बलता ने जो विच्छेद उत्पन्न कर दिया था उस विच्छेद को मिटा देने के लिए एकदिन महर्षि अकेले खड़े हुए थे उस समय उनके सिर के ऊपर वैषयिक विप्लव की प्रबल आंधी चल रही थी और चारों ओर से विच्छिन्न परिवार तथा विरुद्ध समाज की सब प्रकार की चोटें पड़ रही थीं, उसी के बीच में अविचलित शक्ति से एकाकी खड़े होकर उन्होंने अपनी वाणी और व्यवहार द्वारा इस मंत्र की घोषणा की थी—तस्मिन् प्रीतिस्तस्य प्रियकार्यसाधनञ्च तदुपासनमेव।

भारतवर्ष ने अपने दुर्गति-दुर्ग के जिस रुद्ध द्वार पर शताब्दी के बाद शताब्दी बिताई हैं,

अपने धर्म को, समाज को, अपने आचार-व्यवहार को केवलमात्र अपने कृत्रिम घेरे के भीतर समेट कर बैठा रहा है, वह द्वार बाहर के संसार के प्रबल आघात से आज टूट गया है, आज हम सबके सामने प्रकाश में आ गए हैं, सबके साथ आज हमें नाना प्रकार से व्यवहार में आना पड रहा है। आज जहाँ हमारे चरित्र की दीनता, ज्ञान की संकीर्णता, हृदय का संकोच, जहाँ युक्तिहीन आचारों के द्वारा हमारी शक्ति के प्रयोग का पथ पगपग पर बाधाग्रस्त हो गया है, जहाँ लोक व्यवहार में और देवता की उपासना में मनुष्य के साथ मनुष्य के दुर्भेद्य व्यवधान के रूप में हमें खण्ड खण्ड किए दे रहा है, वहीं हमें आघात के बाद आघात, लज्जा के बाद लज्जा, भुगतनी पड़ रही है, वहीं अकृतार्थता बारबार हमारी समस्त चेष्टाओं को धूलिसात् किए दे रही है और वहीं प्रबलवेग से चलनशील मानवस्रोत के अभिघात को सहन न कर सकने के कारण हम मूर्छित हुए जा रहे हैं। ऐसे समय में हमारे देश में जो सब महापुरुष मंगल की जयध्वजा धारण किए आविर्भूत होंगे उनका व्रत ही होगा जीवन की साधना और सिद्धि के बीच सत्य के उस वृहत् सामञ्जस्य को समुज्ज्वल करना जिससे यहाँ के जनसमाज की यह सांघातिक विश्लिष्टता दूर हो, जो विश्लिष्टता इस देश में अन्तर के साथ बाहर का, आचार के साथ धर्म का, ज्ञान के साथ भक्ति का विचारशक्ति के साथ विश्वास का, मनुष्य के साथ मनुष्य का प्रबल विच्छेद उत्पन्न कर हमारे मनुष्यत्व को जराजीर्ण किए डाल रही है।

धनी घर के प्रचुर विलास के आयोजन के बीच जन्म लेकर तथा आचारनिष्ठ समाज की कुल क्रमागत प्रथा के बीच परिवेष्टित रहते हुए भी महर्षि अपनी विच्छेदकातर आत्मा में इस सामञ्जस्य अमृत के लिए व्याकुल हो उठे थे, अपने जीवन में सदा समस्त लाभहानि, समस्त सुखदुःख के बीच इस सामञ्जस्य की साधना को ग्रहण किया था और बाहर के समस्त बाधाविरोधों के बीच शान्त शिव अद्वैत—सामञ्जस्य के इस मन्त्र का अकुण्ठित स्वर से प्रचार किया था।

उनके चित्त के इस सर्वव्यापी सामजस्यबोध ने उनकी अपनी संसार-यात्रा में तथा धर्म कर्म में प्रत्येक प्रकार के सीमालंघन से भलीभाँति रक्षा की, गुरुवाद और अवतारवाद की उच्छृंखलता से उनको निवृत्त किया तथा इस सामंजस्यबोध ने चिरंतन संगीत्य में उनको एकान्त द्वैतवाद में पथभ्रष्ट या एकान्त अद्वैतवाद के कुहेलिका राज्य में निरुद्देश्य नहीं होने दिया। सीमालंघन की आशंका उनके मन में सर्वदा किस प्रकार जाग्रत थी इसका एक उदाहरण देकर मैं समाप्त करूँगा। उस समय वे अस्वस्थ शरीर पार्क स्ट्रीट में रहते थे—एक दिन दोपहर हमारे जोड़ासांको के घर से उन्होंने मुझे पार्क स्ट्रीट बुलवाकर कहा, 'देखो, मेरी मृत्यु के बाद मेरी चिताभस्म लेकर शान्तिनिकेतन में समाधि स्थापना का एक प्रस्ताव मैंने सुना है,

किन्तु तुमसे मैं विशेष रूप से कहे जा रहा हूँ कि, कभी वहाँ मेरी समाधि मत बनने देना।' मैं अच्छी तरह समझ गया कि शान्तिनिकेतन आश्रम की जो ध्यान मूर्ति उनके मन में विराज रही थी, वहाँ के जिस शान्त, शिव, अद्वैत के आविर्भाव को परिपूर्ण आनन्दरूप में देख पा रहे थे, उसके बीच उनके अपने समाधिस्तंम्भ की कल्पना समग्र की पवित्रता और सौंदर्य को चुभ रही थी—वहाँ उनका अपना कोई स्मरणचिह्न आश्रम देवता की मर्यादा का कभी पीछे लेशमात्र भी अतिक्रमण करे, उस दिन मध्याह्न में इसी आशंका ने उन्हें शांत नहीं रहने दिया।

[अनु० रा० तो०]

सन्ध्या, ७ पौष १३१७ बंगाब्द (१९१० ई०)



महर्षि और शान्तिनिकेतन

अजितकुमार चक्रवर्ती

पार्क स्ट्रीट (कलकत्ता) में रहते १८८८ ई० में उन्होंने शान्तिनिकेतन आश्रम को सर्वसाधारण के लिए ट्रस्टडीड (न्यास-पत्र)* द्वारा उत्सर्ग कर दिया। ट्रस्टडीड में लिखा है कि प्रतिवर्ष उनके पुण्य दीक्षा दिन ७ वीं पौष को शान्तिनिकेतन में उत्सव होगा और उत्सव के साथ-साथ एक मेला लगेगा। यह मेला नामक वस्तु इस देश की एक विशेष वस्तु है। किसी पुण्य दिन या पुण्यश्लोक व्यक्ति की स्मृति को चिरस्थायी बनाए रखने के लिए ऐसी व्यवस्था और किसी देश में उद्भावित नहीं हुई। स्मृतिसभा, वक्तृता, संगमर्मर पत्थर की मूर्ति या स्तंभ से बड़ी चीज है यह मेला क्योंकि यह सब लोगों के जीवन के भीतर स्मृति को ताजा बनाए रखने का उपाय है।

शान्तिनिकेतन आश्रम के नियमों को देखने से भी उनके असांप्रदायिक विचारों का परिचय मिल सकता है। यद्यपि नियम है कि आश्रम में 'निराकार एक ब्रह्म की उपासना के अतिरिक्त किसी सम्प्रदाय विशेष के अभीष्ट देवता या पशु, पक्षी, मनुष्य या मूर्ति या चित्र किसी चिह्न की पूजा या होम यज्ञादि नहीं होगा, तथापि उसके साथ साथ कहा गया है कि 'किसी धर्म या मनुष्य के उपास्य देवता की किसी प्रकार निन्दा या अवमानना इस स्थान पर नहीं होगी।' एवं 'इस प्रकार उपदेशादि होगा जिसके द्वारा सार्वजनीन भ्रातृभाव बढ़े।' विधिनिषेध के बीच और एक निषेध यह है, इस आश्रम में आमिष भोजन और मद्यपान नहीं हो सकेगा।

जो इस प्रकार असांप्रदायिक भाव से ईश्वर की साधना करना चाहते हैं इस आश्रम के उनके लिए ही उत्सर्ग होने पर भी न्यास पत्र (ट्रस्टडीड) में लिखा है कि इस आश्रम में एक अच्छे पुस्तकालय और ब्रह्मविद्यालय की स्थापना करनी होगी। सन् १९०१ में देवेन्द्रनाथ की यह इच्छा पूर्ण हुई। उनके कनिष्ठ पुत्र रवीन्द्रनाथ ने उनके सामने शान्तिनिकेतन आश्रम में एक ब्रह्मचर्य विद्यालय खोलने का प्रस्ताव रखा एवं देवेन्द्रनाथ ने अत्यन्त आनन्द के साथ उसका अनुमोदन किया। १९०१ से १९१६ तक पन्द्रह वर्षों में समस्त मैदान विद्यालय की कुटियों से छा गया है और भारतवर्ष तथा बर्मा की नाना जगहों से प्राय दो सौ विद्यार्थी इस विद्यालय में आज पढ़ रहे हैं। नाना पण्डित, गुणी और रसिक व्यक्तियों के समागम से आश्रम देश विदेश में विख्यात हो गया है। विद्यालय की प्रतिष्ठा के बाद देवेन्द्रनाथ ने एकदिन बातचीत करते हुए कहा था—मैं मनश्चक्षुओं से देख रहा हूँ समस्त मैदान लड़कों से भर गया है।

---

* देखिए आगे अविकल हिन्दी अनुवाद

फिर भी आश्चर्य का विषय यह है कि शान्तिनिकेतन के न्यासपत्र में विद्यालय की कोई संभावना तक नहीं थी। सुतरां शान्तिनिकेतन आश्रम के लिए इतना आयोजन सभी को अनावश्यक प्रतीत हुआ था। यहां बहुत खर्च करके कांच का एक मन्दिर बनवाया। मन्दिर का फ़र्श सफेद पत्थर से बनवाया गया, और चारों ओर नाना रंगों के कांच की दीवालें और अनेक दरवाजे बने। दरवाजों को लगा देने से चारों ओर बिल्कुल उन्मुक्त हो जाता है। शान्तिनिकेतन के विशाल प्रान्तर के—अनन्तत्व का भाव दब न जाय इसीलिए मन्दिर को ऐसा बनवाया गया। उसके बाद बगीचे के चारों ओर छोटे छोटे खंभे बनवाकर उनपर उन्होंने ब्रह्ममंत्र लिखवा दिए, और छातिमतला पर ध्यान करने के अपने स्थान पर सफेद पत्थर की वेदी बनवाई। मन्दिर में नित्य दो बार उपासना करने के लिए एक निर्दिष्ट व्यक्ति पुरोहित नियुक्त हुए। केवल मन्दिर वे देख नहीं सके—उनके निर्देशानुसार वह निर्मित हुआ था। किन्तु क्यों? यह सब किसके लिये? बँधा मासिक वेतन पानेवाले पुरोहित द्वारा क्या धर्मोपासना हो सकती है? नहीं होती इसे वे जानते थे। देवेन्द्रनाथ के पार्कस्ट्रीट में रहते समय श्रीयुक्त रवि बाबू आदि ब्रह्मसमाज के सम्पादक हुए, तब एकदिन उन्होंने यही प्रश्न उनसे पूछा था। उन्होंने कहा, अच्छा तो तुम अच्छा आदमी लाकर उपासना कराओ। किन्तु ऐसा आदमी मिलेगा कहाँ? देवेन्द्रनाथ सोचते थे, जब तक ठीक आदमी न मिले तब तक एक सुरधरिया तो रखना ही चाहिए—कोई व्यवस्था तो तैयार रखनी ही होगी। शान्तिनिकेतन में कोई नहीं है, तो भी ब्रह्मोपासना का सुर वहाँ रोज बजना ही चाहिए—इसीलिए इतनी व्यवस्था है।

अवश्य ही समय समय पर ब्रह्म समाज के किसी किसी प्रचारक ने आकर आश्रम में निवास किया है। उस समय आश्रम के अध्यक्ष श्रीयुक्त अघोरनाथ चट्टोपाध्याय की चेष्टा और यत्न से आश्रम के बाहर का सौष्ठव पूरा था—ब्रह्म समाज के साधकों ने आकर यहाँ उनके आतिथ्य में परमानन्द से दिन बिताए हैं। इसीलिए साधारण लोगों के मन में यह विश्वास है कि श्रीयुक्त रवि बाबू का विद्यालय हो जाने के कारण देवेन्द्रनाथ का शान्तिनिकेतन आश्रम-स्थापना का उद्देश्य नष्ट हो गया। जहाँ निर्जनता और शान्ति थी, वहाँ तीन सौ व्यक्तियों की हाट लग गई है। जो यह बात सोचते हैं उनको यह जानना चाहिए कि विद्यालय के प्रतिष्ठाता भी स्वयं देवेन्द्रनाथ हैं। उन्होंने संसारविमुख साधकों के लिए शान्तिनिकेतन के इस निभृत नीड़ की रचना नहीं की। उन्होंने मन ही मन जनता की इस हाट की ही कामना की थी। यहाँ सब विचित्र साधनाओं का स्थान होगा और सब साधनाओं के ऊपर रहेगी ब्रह्म की साधना, की भूमा साधना। यहाँ ज्ञानी आएंगे, वैज्ञानिक आएंगे, शिल्पी आएंगे, कर्मी आएंगे—

धीरे धीरे सम्भव है यह एक विश्वविद्यालय हो जावेगा। किन्तु उस विश्वविद्यालय की विचित्र साधना इस आश्रम में भूमा की साधना में अंगीभूत होगी। सुतरां विश्वविद्यालय यहाँ एक विश्वतीर्थ के समान हो हो जावेगा। उस विश्वविद्यालय की विचित्र तपस्या के बीच छोटे छोटे बच्चे बड़े होंगे। यह आदर्श केवल शिक्षा का पूर्ण आदर्श नहीं हैं, धर्म का भी पूर्ण आदर्श है।

शान्तिनिकेतन आश्रम में एक बृहत् भावी उद्योग का बीज बोया गया है इसे वे अपने हृदय में समझते थे। इसीलिए इस जगह के ऊपर उनको आश्चर्यपूर्ण विश्वास था। शान्तिनिकेतन के सबध में किसी के कोई निराशा या उद्वेग प्रकट करने पर वे कहते—तुम कोई चिन्ता मत करो, यहाँ के लिए कोई आशका नहीं है—मैं वहाँ शान्त शिव अद्वैत की प्रतिष्ठा कर आया हूँ।

कौन जानता था कि इस वीरान प्रान्तर में उन्होंने जो ध्यानासन बिछाया था, वहाँ एक दिन विश्व की प्राणधारा नाना दिशाओं से प्रवाहित होकर उस मरु को एक महातीर्थ में परिणत कर देगी। उनके जीवन का काम, उनकी अध्यात्म साधना, उनकी सामाजिक साधना, सब कुछ यहाँ नए युग के प्राण के बीच प्राण लाभ करके क्रमश और भी उन्नत, और भी विकसित होकर बढ़ता ही रहेगा—यह बात क्या किसी ने स्वप्न में भी सोची थी? जिस पूर्व-पश्चिम को उन्होंने अपनी अध्यात्म साधना में, अपनी तत्त्वचिन्ता में मिलाने पर भी स्वजातीयता को बाल बराबर भी विकृत नहीं किया—वही पूर्व पश्चिम का मिलन यहाँ और बड़ा होकर सत्य रूप में दिखाई पड़ेगा—यह बात कौन जानता था? स्वजातीयता और विश्वजागतिकता ये दोनों वरवधू के समान इस आश्रम में मिलेंगे और यहीं उस मिलन का नौबत सगीत में बजती रहेगी, इस बात की भी कौन कल्पना कर सकता था? यह सब देखने पर यह बात स्पष्ट समझ में आती है कि कोई बड़ा भाव कभी मरता नहीं, किसी बड़ी साधना का कभी विनाश नहीं होता। बीज जैसे सड़गल जाता है तब उसमें से अंकुर फूट पड़ता है। बड़े भाव और बड़ी साधना को उसी प्रकार एक बार मरना पड़ता है, उसके बाद काल के काले अन्धकार को भेद करके उसका अफुरन्त प्राण फिर माथा उठाकर निकलता है।

—'महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर' (१९१६) से

[अनु० रा० तो०]

शान्तिनिकेतन आश्रम का न्यासपत्र [ट्रस्टडीड]

श्रीयुक्त बाबू द्विपेन्द्रनाथ ठाकुर

पिता का नाम श्रीयुक्त बाबू द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर

निवासी जोड़ासाँको, कलकत्ता

श्रीयुक्त बाबू रमणीमोहन चट्टोपाध्याय

पिता का नाम श्रीयुक्त बाबू ललितमोहन चट्टोपाध्याय

निवासी मानिकतला, कलकत्ता

श्रीयुक्त पण्डित प्रियनाथ शास्त्री

पिता का नाम कृपानाथ मुन्सी

वर्तमान निवास पार्क स्ट्रीट, कलकत्ता

स्नेहास्पदेषु ।

लिखितं श्रीदेवेन्द्रनाथ ठाकुर

पिता का नाम स्व० द्वारकानाथ ठाकुर

साकिन शहर कलकत्ता जोड़ासाँको, वर्तमान साकिन पार्क स्ट्रीट ।

कस्य ट्रस्टडीड पत्रमिदं कार्यंश्चागे* जिला बीरभूम के अंतर्गत जिला रेजिस्ट्रारी बीरभूम सबरेजिस्ट्रारी बोलपुर पुलिस डिवीजन बोलपुर परगना सेनभूम तालुका सुपुर के अंतर्गत बोलपुर की हद लगान बंदी मौजा भुवननगर में बांध के उत्तर भाग में पहली तफसील में लिखित चौहद्दी के अंतर्गत अनुमानतः बीस बीघा जमीन तथा उसमें मौजूद बाग और इमारत जो इस समय शान्तिनिकेतन के नाम से प्रसिद्ध है, इस बीस बीघा जमीन को मैं सन् १२९६ की साल में[1] तारीख १८ फाल्गुन को श्रीयुक्त प्रतापनारायण सिंह से मौरूसी पट्टा प्राप्त करके उसमें बाग एक मंजिला और दुमंजिला मकान बनवाकर मौरूसी अधिकार के रूप में स्वत्त्ववान और दखलवंद हूँ। निराकार ब्रह्म की उपासना के लिए एक आश्रम स्थापित करने के उद्देश्य से और इस न्यासपत्र में लिखितकार्य के संपादनार्थ मैं उक्त शान्तिनिकेतन नामक सम्पत्ति और उससे संबद्ध जो कुछ चल अचल हक हकूक हैं जिसका आनुमानिक मूल्य ५००० पांच हजार

---

* यह शिरोनामा बंगाल में प्रायः आज भी प्रचलित है, अर्थ है—
'यह न्यासपत्र आगे लिखे कार्य के लिए है'।

१. सन् १८८९ ई० ।

रुपया होगा यह समस्त संपत्ति तुम लोगों को सौंपकर न्यासी (ट्रस्टी) नियुक्त करता हूँ कि तुम न्यासी के रूप में स्वत्ववान होकर स्वयं और इस पत्र की शर्तों के अनुसार संपत्ति के अधिकारी होने के कारण हमेशा इस पत्र (डीड) के उद्देश्य और कार्यों को आगे लिखे नियमों के अनुसार सम्पन्न करके दखलकार रहोगे। मेरा अथवा मेरे उत्तराधिकारी या स्थलाभिषिक्तगण का इस संपत्ति पर कोई स्वत्व-दखल नहीं रहा। उक्त संपत्ति सदा केवल निराकार एकब्रह्म की उपासना के लिए व्यवहृत होगी। इस व्यवहार की प्रणाली इस न्यासपत्र में जिस प्रकार लिखी गई है उसके विपरीत कभी नहीं हो सकेगी। इन न्यासियों के कार्य के संबंध में न्यासियों (ट्रस्टीगणों) के बीच मतभेद होने पर बहुमत के अनुसार कार्य होगा। किसी न्यासी के पद त्याग करने पर अथवा किसी न्यासी की मृत्यु हो जाने पर शेष न्यासीगण उसके स्थान पर इस पत्र के उद्देश्य की पूर्ति के लिए उपयुक्त और इच्छुक किसी प्राप्तवयस्क धार्मिक व्यक्ति को न्यासी नियुक्त करेंगे। नए न्यासी पूर्णरूप से इस पत्र (डीड) के नियमाधीन होंगे। उक्त शान्तिनिकेतन में अन्य सामान्यजन एक अथवा अनेक एकत्रित होकर निराकार एकब्रह्म की उपासना कर सकेंगे। घर के भीतर उपासना करने के लिए न्यासीगण की सम्मति आवश्यक होगी, घरके बाहर इस प्रकार की सम्मति की आवश्यकता नहीं होगी। निराकार एक ब्रह्म की उपासना के अतिरिक्त किसी सम्प्रदाय विशेष के अभीष्ट देवता या पशु पक्षी, मनुष्य या मूर्ति या चित्र या किसी चिह्न की पूजा या होमयज्ञादि इस शान्तिनिकेतन में नहीं होंगे। धर्मानुष्ठान या खाने के लिए जीवहिंसा या मांस लाना या आमिषभोजन या मद्यपान इस स्थान में नहीं किया जा सकेगा। किसी धर्म या मनुष्य के उपास्य देवता की किसी प्रकार निन्दा या अवमानना इस स्थान में नहीं होगी। ऐसे उपदेशादि होंगे जो विश्व के स्रष्टा और पाता ईश्वर की पूजा वन्दनादि-ध्यान धारणा के लिए उपयोगी हों एवं जिनके द्वारा नीतिधर्म उपचिकीर्षा तथा सर्वजनीन भ्रातृभाव बढ़े। किसी प्रकार का अपवित्र आमोद प्रमोद नहीं होगा। धर्मभाव जगाने के लिए न्यासीगण प्रति वर्ष एक मेला लगवाने की चेष्टा और उद्योग करेंगे। इस मेले में सब धर्मसम्प्रदायों के साधुपुरुष आकर धर्मप्रचार और धर्मालाप कर सकेंगे। इस मेले के उत्सव में किसी प्रकार पौत्तलिक आराधना नहीं होगी तथा कुत्सित आमोद उल्लास नहीं किया जा सकेगा। मद्य मांस छोड़कर इस मेले में सब प्रकार की चीजों की खरीद-बिक्री हो सकेगी। यदि आगे इस मेले के द्वारा किसी प्रकार की आय हो तो न्यासीगण उस आय के रुपये को मेले अथवा आश्रम की उन्नति के लिए खर्च करेंगे। इस न्यास के अनुकूल आश्रमधर्म की उन्नति के लिए न्यासीगण शान्तिनिकेतन में ब्रह्मविद्यालय और पुस्तकालय की संस्थापना, अतिथि सत्कार और उसके लिए आवश्यक होने पर उपयुक्त भवन निर्माण और चल, अचल

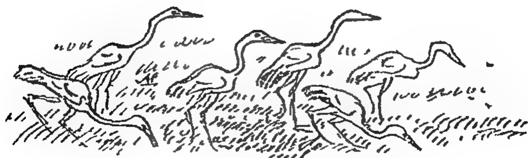
वस्तु खरीद देंगे एवं इस आश्रम धर्म की उन्नति में सहायक सब तरह से कार्य कर सकेंगे। न्यासीगण यत्नपूर्वक हमेशा इस अर्जित सम्पत्ति की रक्षा तथा देखभाल करेंगे और उसके लिए एवं शान्तिनिकेतन के कार्य निर्वाह के निमित्त वहाँ किसी उपयुक्त, सच्चरित्र, ज्ञानी तथा धार्मिक व्यक्ति को आश्रमधारी नियुक्त करेंगे और आवश्यक होने पर उसे हटा सकेंगे। ये आश्रमधारी न्यासीगण के तत्त्वावधान में उनके अधीन रहकर कार्य करेंगे। यदि आश्रमधारी अपने शिष्यगणों में से किसी को उपयुक्त समझें तो वे न्यासीगण की लिखित अनुमति लेकर उस शिष्य को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत कर सकेंगे, किन्तु ट्रस्टीगण की अनुमति बिना लिए ऐसा नहीं कर सकेंगे। अथवा आश्रमधारा अपने जिस शिष्य को इस प्रकार उत्तराधिकारी मनोनीत करने की इच्छा प्रकट करें, यदि न्यासीगणों के विचार से वह व्यक्ति इस कार्य के उपयुक्त प्रतीत न हो, ऐसी स्थिति में वे उस व्यक्ति के बदले में अन्य व्यक्ति को आश्रमधारी मनोनीत और नियुक्त कर सकते हैं। आश्रमधारी के मनोनीत शिष्य को आश्रमधारी के पद पर नियुक्त करने और उसको हटाने की पूरी क्षमता न्यासीगण को होगी। यदि कोई कभी इस आश्रम की उन्नति या सहायता के लिए कुछ दान दें तो न्यासीगण उसे ग्रहण करेंगे और उसे इस पत्र में लिखित कार्य में व्यय करेंगे। इस पत्र में लिखित उद्देश्य, साधन और कार्य के निर्वाह और व्यय को चलाने के लिए दूसरी तफशील में लिखी सम्पूर्ण संपत्ति दान की, इसका आनुमानिक मूल्य १८४५२ रुपया है। न्यासीगण आज से इस संम्पूर्ण सम्पत्ति के संरक्षण तथा सब प्रकार के व्यय-बन्दोवस्त के जिम्मेदार हुए। इस सम्पूर्ण सम्पत्ति की रक्षा-देखभाल के हर तरह के व्यय और राजस्व आदि के बाद जो बचेगा उसके द्वारा आश्रम का आवश्यक व्यय, आश्रम के भवनादि की मरम्मत और निर्माण एवं इस पत्र में लिखित अन्यान्य सब कार्यों के व्यय का भुगतान करेंगे; उक्त प्रदत्त सब सम्पत्ति की आय से न्यास का व्यय चुकाकर यदि कुछ बचे तो न्यासीगण उससे गवर्मेण्ट प्रामिसरी नोट या किसी प्रकार की मालिकी के अधिकार से निरापद स्थावर संपत्ति खरीदेंगे, अथवा आश्रम या मेले की उन्नति के लिए खर्च करेंगे। यदि किसी प्रकार की संपत्ति या प्रोमिसरी नोट खरीदे जांय तो वह न्यास-सम्पत्ति समझी जाकर इस पत्र की शर्तों के अनुसार व्यवहृत होगी। किन्तु बचत की आय से यदि कोई गवर्मेंट प्रामिसरी नोट खरीदे जायं तो यदि आश्रम के किसी कार्य के लिए उन प्रामिसरी नोटों की विक्री करना आवश्यक हो तो न्यासी उन्हें बेच सकते हैं। न्यासीगण इस आश्रम के आय-व्यय का वार्षिक हिसाब प्रस्तुत किया करेंगे। इस पत्र में लिखित कार्यों के अतिरिक्त अन्य किसी कार्य में अर्पित सम्पत्ति की आय न्यासीगण खर्च नहीं कर सकेंगे और इस संपूर्ण संपत्ति को किसी प्रकार दान-विक्री के द्वारा हस्तान्तर या दाय संयोग नहीं कर सकेंगे, और न्यासीगण के किसी तरह

के अपने कर्ज के शोध के लिए यह सब सपत्ति या उसका कोई अंश दायी नहीं होगा। किन्तु दूसरी तफसील में लिखित सपत्ति में जिला राजसाही और पावना के अंतर्गत गालिमपुर और मतिपाड़ा नाम की जो रेशम की दो कोठियाँ हैं किसी कारणवश उन दो कोठियों की आय यदि बंद हो जाय तो आवश्यक विचार करके न्यासीगण इन दो कोठियों को बेच कर उनकी कीमत के रुपये से न्यासीगण गवर्मेंट प्रामीसरी नोट अथवा अन्य कोई निरापद स्थावर सम्पत्ति खरीद सकेंगे। वह खरीदी सपत्ति मेरी अर्पित मूल सपत्ति के समान समझी जाकर इस पत्र की शर्त के अनुसार कार्य में लगेगी। इसलिए तीसरी तफसील में लिखित दलील समस्त न्यासियों को समझाकर स्वस्थचित्त से यह न्यासपत्र लिखा। इति सन् १२९४ साल तारीख २६ फाल्गुन।

तत्त्वबोधिनी पत्रिका से
वैशाख १८१० शकाब्द

श्रीदेवेन्द्रनाथ ठाकुर

[अनु० रा० तो०]



संस्कृत-काव्यशास्त्र में 'लक्षण' तत्त्व एवं उसका दशपक्षी सिद्धान्त

राजेन्द्र मिश्र

काव्यतत्त्वों की रूपरेखा हमें वैदिक साहित्य से ही प्राप्त होने लगती है। विशेष करके छन्दोविधान तथा उपमा-रूपक प्रभृति अलंकार, जिनका विवेचन निरुक्तकार आचार्य यास्क ने (ई० पू० ७०० ई०) स्पष्टतः किया है, इसके स्थायी प्रमाण हैं।[१] इसी प्रकार महर्षि पाणिनि की अष्टाध्यायी तथा बादरायण के ब्रह्मसूत्रों में निबद्ध अलंकार-व्याख्यान भी इस मत की पुष्टि करते हैं कि, काव्य-तत्त्व अपने बीज रूप में वैदिक ऋचाओं के साथ ही निक्षिप्त हो चुके थे।[२] इन्हीं तत्वों का अंकुरण अथवा विकास ईसा पूर्व द्वितीय शती में हुआ।

भरत मुनि प्रणीत 'नाट्यशास्त्र' जिसे छत्तीस अध्यायों वाला होने के कारण 'षट्त्रिंशक' भरतसूत्र'[३] भी कहा जाता है, इसी युग की एक महान् कृति है। यद्यपि बहिरंग दृष्टि से तो यह ग्रन्थ केवल 'नाट्य' से ही सम्बद्ध प्रतीत होता है किन्तु जैसा कि डा० एस० पा० भट्टाचार्य[४] जी ने सिद्ध किया है, इसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध नाट्येतर काव्यभेदों तथा अंगों से भी है। यही कारण है कि आचार्य भरत का 'काव्य' शब्द का प्रयोग सर्वत्र उभयार्थ का द्योतक है, अर्थात् नाटक तथा महाकाव्यादि वर्ग दोनों।

प्रस्तुत निबन्ध में उन्हीं आचार्य भरत द्वारा संस्थापित एक प्रख्यात काव्यतत्त्व 'लक्षण' पर कुछ प्रकाश डाला जा रहा है, जो कि अद्यावधि विद्यमान काव्यशास्त्रीय-परम्परा में सर्वथा लुप्तप्राय हो चुका है। निश्चित है कि अलंकारों का उद्भव 'नाट्यशास्त्र' में ही हुआ—किन्तु प्रत्यक्ष रूप में नहीं, क्योंकि प्रत्यक्षतः तो भरत ने केवल चार अलंकारों की स्थापना की—उपमा, रूपक, दीपक और यमक; किन्तु यह तथ्य सिद्धान्ततः सत्य है कि भरत ने परवर्ती युग में प्रख्यात समस्त अलंकारों की सत्ता स्वीकार की थी। जैसे कोई विदग्ध गणितज्ञ अपने

---

१. अथात उपमा। यदेतत् तत्सदृशमिति गार्ग्यः। तदासां कर्म ज्यायसा वा गुणेन वा प्रख्याततमेन वा कनीयांसं वा अप्रख्यातं वा उपमिमीते, अथापि कनीयसा ज्यायांसम्—निरुक्त ३।१३।

२. सविस्तर द्रष्टव्य : निरुक्त ३।१८ तथा ब्रह्मसूत्र १।४।१ एवं ३।२।१८।

३. द्रष्टव्य—'षट्त्रिंशकं भरतसूत्रमिदं विवृण्वन्' (अभि० भा० पद्य—२)।

४. द्रष्टव्य—'पूना ओरिएण्टलिस्ट' भाग १६ में भट्टाचार्य जी का लक्षण विषयक निबन्ध (सन् १९५१ ई०)।

अबोध विद्यार्थी को एक ही उदाहरण में 'ऐकिकनियम' समझा कर समस्त प्रश्नमाला हल करने का दायित्व उसी पर छोड़ दे, ठीक उसी प्रकार आचार्य भरत ने केवल 'अलंकार चतुष्टय' का उदाहरण देकर प्रपंच का भार अपने अनुवर्तियों पर छोड़ दिया। इस चतुर्मुखालंकार को शतमुख बनाने के लिए उन्होंने 'लक्षणरूपी' ऐकिकनियम की सर्जना की। इस स्थल पर इसी लक्षण के विषय में एक अभिनव दृष्टिकोण से कुछ सामग्री देने की चेष्टा की जा रही है। क्योंकि उपेक्षित होने के कारण लक्षणों का स्वरूप अब इतने अन्धकार में जा चुका है कि उसीके 'अ ब स' का हमें ज्ञान नहीं। इस पर भी यह मानना कि 'समस्त अलङ्कारों का उद्भव लक्षणों से हुआ है' एक कल्पना मात्र है।

लक्षण उसी प्रकार काव्य के तत्त्व विशेष हैं जैसे छन्द, वृत्त, रस, भाव, दोष, गुण तथा अलंकार आदि। ये काव्यतत्त्व, यद्यपि परवर्ती आलङ्कारिकों के नियामक बुद्धि वैभव में पड़ कर खण्डित, सङ्कुचित, मर्यादित तथा निश्चितप्राय हो गए, किन्तु आचार्य भरत के युग में उनका व्याप्तिक्षेत्र अत्यन्त विस्तृत था। यही कारण है कि उन्होंने नाट्यशास्त्र के व्याख्यानसन्दर्भ में भी पूर्वप्रोक्त इन काव्याङ्गों का सापेक्ष वर्णन प्रस्तुत किया। इसका एकमात्र प्रमाण यही है कि परवर्ती युग में इन काव्यतत्त्वों की 'मञ्जुलसमष्टि' स्थायी न रह सकी खण्डित हो गई। इनमें से कुछ तत्त्व, तो महाकाव्य और नाटक (श्रव्य एवं दृश्य काव्य) दोनों में व्याप्त रहे, किन्तु कुछ, उभयनिष्ठ होते हुए भी एक ही क्षेत्र में रूढ़ हो गए। काव्यतत्त्वों के इस वर्गीकरण का मूल कारण आचार्यों की 'भेदबुद्धि' अथवा काव्य विभाजन' ही था। उभयनिष्ठ काव्यतत्त्वों में हम छन्दवृत्त तथा रस भावादि को तथा एकनिष्ठ काव्यतत्त्वों में गुण-दोष तथा अलंकार को ले सकते हैं।

शेष बचे 'लक्षण', जिनका स्वरूप ही सुस्थिर न हो सका। लक्षणों के विषय में अस्थिरता का मूलकारण यह था कि—१ आचार्य भरत ने अन्य काव्य तत्त्वों की तरह लक्षणों की कोई परिभाषा नहीं दी और न उनका स्वरूप स्थिर किया।

२ चूँकि आचार्य भरत का दृष्टिकोण काव्य के दायरे में, दृश्य एवं श्रव्य के भेद से परे रहा, और चूँकि लक्षणों में स्थान-स्थान पर प्रबन्धगत तथा अभिनयगत वैशिष्ट्य भी निबद्ध किये गए हैं, अत परवर्ती विद्वानों को यह स्पष्ट ज्ञान न हो सका कि लक्षण वस्तुत महाकाव्य के आधारतत्त्व हैं अथवा नाटक के? यह उभयकोटिक मतवैषम्य, भामह के ही युग से अपरिस्फुट रूप में कन्दलित हुआ तथा साहित्यदर्पणकार के बाद तक, किंवा अद्यावधि स्फुट रूप में उसी प्रकार विद्यमान है।

ऐसी दशा में आज के प्रत्येक संस्कृत काव्यरसपिपासु तथा अनुसन्धित्सु के लिए 'आचार्य भरत

का लक्षण सिद्धान्त' एक चुनौती है। भरत के पूर्व लक्षणों की क्या स्थिति थी, लक्षणों के विषय में स्वयं लक्षणकार की क्या मान्यता थी, क्या दृष्टिकोण था? संस्कृतकाव्यशास्त्र में लक्षणों का क्या स्थान और क्या दायित्व है? ये सब के सब प्रश्न अत्यन्त जटिल, दुर्बोध किन्तु श्रमसाध्य तथा रोचक हैं। इसी कारण देश के परतन्त्र रहने पर भी शोधप्रेमी अंग्रेज मनीषियों द्वारा प्रेरणा एवं बल पाकर भारतीय विद्वानों ने इस ओर प्रयास प्रारंभ किया, और अज्ञानगर्त में डूबी जाने कितनी ही कृतियों का उद्धार किया। भास जैसा समस्याएँ, वैदिक साहित्यानुशीलन तथा कालनिर्धारण सरीखे महान् कार्य इसी शोधोन्मुखी प्रवृत्ति के पवित्र परिपाक हैं। लक्षणों के विषय में भी किसी ने किसी अंग या पक्ष को लेकर अनेक संस्कृत विद्वानों ने श्लाघ्य जानकारियाँ प्रस्तुत कीं। डा० के० कृष्णमूर्ति[५], प्रो० शिवप्रसाद भट्टाचार्य[६] डा० सुशीलकुमार डे[७], डा० प्रकाशचन्द्र लाहिरी[८], डा० वी० राघवन्[९], डा० गणेशत्र्यम्बक देशपाण्डे[१०] तथा इसी कोटि के और भी अन्यान्य विद्वानों के नाम उसी कोटि में हैं, जिनके अनवरत प्रयत्नों के ही कारणवश, लक्षणों का स्वरूप अपेक्षाकृत अधिक सरल तथा बोधगम्य हो सका।

किन्तु, उपर्युक्त विवरण का न तो यही तात्पर्य है कि 'लक्षणों के सिद्धान्त' पर अब कुछ कहना शेष नहीं रहा, और न ऐसी कोई सम्भावना ही है कि इन विद्वानों के एतद्विषयक मत सर्वात्मना ग्राह्य तथा विशुद्ध हैं। क्योंकि इन समस्त आलोचकों ने अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण से ही लक्षणों का व्याख्यान किया है, किसी को लक्षणों का इतिहास बताना इष्ट रहा तो किसी को 'दशपक्षी' का विवेचन। कोई लक्षणालङ्कार-सम्बद्ध पर केन्द्रित रहा तो कोई उसके काव्यशास्त्रीय गौरव पर। इसी कारण उक्त सुधीजनों के व्याख्यान एकाङ्गी से प्रतीत होते हैं। दूसरी बात यह है कि उल्लिखित विद्वानों में से प्रत्येक ने प्रायः निरपेक्ष रूप से भरत

---

५. भरत'स थ्योरी आफ रस—पूना ओरियंटलिस्ट, खण्ड १२, पृष्ठ २३-३३; १९४७।

६. दि डाक्ट्रिन आफ लक्षणस् एण्ड ए पिप इनटु इट्स चेकर्ड हिस्ट्री, वही, खण्ड १६, पृष्ठ ११-३५; १९५१।

७. दि प्राब्लम आफ पोयटिक एक्सप्रेशन—सम प्राब्लमस् आफ संस्कृत पोयटिक्स—कलकत्ता, १९५९।

८. कन्सेप्ट आफ रीति एण्ड गुण इन संस्कृत पोयटिक्स—ढाका, १९३७।

९. दि हिस्ट्री आफ लक्षण—सम कन्सेप्ट आफ द अलंकारशास्त्र—१९४२।

१०. 'भारतीय साहित्य शास्त्र' बम्बई, १९६०।

एव अभिनव के शब्दों को विशद करने का यत्न किया है, अत वे पारम्परिक मतालोचन से, या तो स्वीकृतिवश अथवा किसी विवशता के कारण दूर रहे हैं। भट्टाचार्य जी ने, डा० राघवन् के 'दशपक्षी' व्याख्या तथा क्रम का, जो कुछ खण्डनप्रस्तुत भी किया है, वह किसी शोधपरक जिज्ञासा को उद्भावित करने में समर्थ नहीं। इस दृष्टि से डा० देशपाण्डे के मत अवश्य ही कुछ अधिक मौलिक तथा स्वीकार्य हैं।

अत', इस स्थल पर लक्षणों पर केवल उसी मात्रा तक विचार किया जायेगा जिससे 'अलङ्कारों के विकास' के प्रति उनका दायित्व पूर्णत स्पष्ट हो जाय। इस नियमित दृष्टिकोण के कारण लक्षणों का ऐतिहासिक पक्ष हम इस प्रसग से दूर रखते हैं।

काव्यतत्त्वों के विषय में प्रस्ताविक अनुच्छेद में कुछ ज्ञातव्य बातें बताई गई हैं। आचार्य भरत का नाट्यशास्त्र अधिकांशत नाटकीय तत्त्वों (रगमण्डप, नृत्य तथा अभिनयादि) से ही सम्बद्ध है तथापि बीच-बीच में यथास्थान काव्यतत्त्वों का मौलिक विवेचन भी इसमें प्राप्त होता है। छठें एव सातवें अध्याय मे क्रमश रस तथा भाव का निरूपण, तेरहवें में आवन्ती दाक्षिणात्या-पाञ्चाली आदि प्रवृत्तियों का वर्णन, चौदहवे तथा पन्द्रहवें अध्याय में छन्दवृत्त व्याख्यान, और सोलहवें अध्याय में काव्य के लक्षण अलङ्कार-गुण तथा दोष का मनोरम व्याख्यान, आचार्य भरत ने प्रस्तुत किया है। इस प्रकार छठे से लेकर सोलहवें के बीच स्थित यह 'षडाध्यायी' काव्यतत्त्वों के विवेचन की आधार-शिला है। यहीं के रस भाव निरूपण, परवर्ती युग में ध्वनिकार-लोचनकार तथा काव्यप्रकाशकार द्वारा परिनिष्ठित एव परिमार्जित होकर, रसध्वनि तथा भावध्वनि की मान्यता प्राप्त करके 'काव्यकी आत्मा' बन सके।११ यहीं की प्रवृत्तियाँ, आचार्य वामन की रीतियाँ बन कर 'रीतिरात्माकाव्यस्य' का मन्द्रघोष गुँजा सकीं। इसी प्रकार भरत प्रोक्त 'अलङ्कार-गुण तथा दोष' ही कुवलयानन्दकार (अप्पय दीक्षित, १७ वीं शती ई०) के युग तक शतादिक एव अपरिमेय बन गए।१२

लक्षणों के विषय में, आचार्य भरत ने कोई निर्णयात्मक तथ्य नहीं दिया है। पन्द्रहवें अध्याय के चरम श्लोक में उनका केवल यही कहना है कि 'इस प्रकार नाना छन्दों से उत्पन्न

११ वस्त्वलङ्कारावपि शब्दाभिधेयत्वमध्यासाते तावत्। रसभावतदाभासतत्प्रशमा पुनर्नकदाचिदभिधीयन्ते, अथ चास्वाद्यमानताप्राणतया भान्ति। तत्र ध्वननव्यापाराहते नास्ति कल्पनान्तरम (लोचन, रसध्वनि प्रसग)।

१२ द्रष्टव्य, अप्पयदीक्षित प्रणीत कुवलयानन्द, कुल ११५ अलकार।

वृत्तों द्वारा छत्तीसलक्षणों से समन्वित काव्यबन्ध प्रणीत करना चाहिए'[१३] (पृ० २२७) सोलहवें अध्याय के प्रारम्भ में ही पुनः, तीन उपजातियों में इन लक्षणों को गिनाकर आचार्य ने कहा है—'भूषण स्वरूप ये छत्तीस लक्षण, जो विशिष्ट भावार्थों (अभिप्रायों) के ज्ञापक या द्योतक हैं, काव्यों में सम्यक् रीत्या प्रयोजित होने योग्य हैं। किसके द्वारा और किस तरह ? 'तज्ज्ञैः' अर्थात् लक्षण-सिद्धान्त को पूर्णतः समझने वाले विदग्ध कवियों द्वारा, 'यथारसम्' अर्थात् जहाँ जैसा रस हो, उसी रूप में।[१४]

इस प्रकार लक्षणों की भूमिका बताकर आचार्य भरत ने उनका नाम क्रमशः इस प्रकार दिया है—विभूषण, अक्षरसंहति, शोभा, अभिमान, गुणकीर्तन, प्रोत्साहन, उदाहरण, निरुक्त, गुणानुवाद, अतिशय, सहेतु, सारूप्य, मिथ्याध्यवसाय, सिद्धि, पदोच्चय, आक्रन्द, मनोरथ, आख्यान, याञ्चा, प्रतिषेध, पृच्छा, दृष्टान्त, निर्भासन, संशय, आशीः, प्रियोक्ति, कपट, क्षमा, प्राप्ति, पश्चात्तपन, अर्थानुवृत्ति, उपपत्ति, युक्ति, कार्य, अनुनीति, तथा परिदेवन।

आचार्य भरत के इन सङ्केतों से लक्षण के विषय में स्थूल रूप से कुछ तथ्य स्पष्ट हो जाते हैं—(१) लक्षण काव्य में भावार्थ (अथवा अभिप्राय) के सूचक हैं।

(२) लक्षणों का सम्बन्ध किसी भी रूप में (प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में) रसों से अवश्य है। तथा (३) लक्षण 'भूषण संमित' अर्थात् काव्यबन्ध के शोभाजनक तत्त्व हैं।

इन युक्तियों से स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य भरत ने लक्षणों को गुण-अलंकार आदि से सर्वथा विलक्षण समझा था। क्योंकि यदि लक्षणों तथा अन्य काव्यतत्त्वों के पारस्परिक अतिक्रमण का कोई भी भय होता तो लक्षणकार स्वयं उसे स्पष्ट करते। लक्षणों की सुदृढ स्थिति जानने के लिए हम 'अभिनव भारती' को ही प्रमाण मान सकते हैं। आचार्य अभिनव गुप्त ने समस्त षोडशाध्याय में लक्षणों को विविध रीतियों से समझने का यत्न किया है और उन समस्त प्रयत्नों का सार यही है कि 'लक्षण काव्य का शरीर है'। काव्य में लक्षणों की स्थिति स्पष्ट करने के लिए अभिनव 'प्रासाद' का दृष्टान्त लेते हैं, जिनकी तुलना इस प्रकार है[१५]—

---

१३. वृत्तैरेवं तु विविधैर्नानाछन्दस्समुद्भवैः काव्यबन्धास्तु कर्तव्याः षट्त्रिंशल्लक्षणान्विताः॥
ना० पृष्ठ २९२ (अध्याय १५)

१४. षट्त्रिंशदेतानि तु लक्षणानि प्रोक्तानि वै भूषण सम्मितानि।
काव्येषु भावार्थगतानि तज्ज्ञैः सम्यक्प्रयोज्यानि यथारसं तु॥—नाट्य० १६।४, पृष्ठ २९५।

१५. सविस्तरद्रष्टव्य, 'अभिनव भारती' (१५।२२७) पृष्ठ २९२।

१ प्रासाद		२ काव्यग्रन्थ
क—भूमि (जो प्रासाद का आधार स्थल है)	—	शब्दच्छन्दोविधि (जो काव्य का आधार स्थल है)
ख—क्षेत्रपरिग्रह (प्रासाद की रूपरेखा-नक्शा)	—	वृत्तसमाश्रयादि (काव्य की रूपरेखा-नक्शा)
ग—भित्ति (जो वास्तव में प्रासाद का सर्वस्व है 'शरीर' होने के कारण)	—	'लक्षण' (जो वास्तव में काव्य का सर्वस्व है) काव्यशरीर होने के कारण।
घ—चित्रकर्म (प्रासाद के शोभाधायकतत्त्व-गौण)	—	गुणालंकार (काव्य के शोभादायक, गौणतत्त्व)
ङ—गवाक्षवातायनादि (प्रासाद को उपयोगी बनाने वाले तत्त्व)	—	दशरूपविभाग (काव्य को उपयोगी बनाने वाले तत्त्व।

लक्षण को 'काव्यशरीर' मान कर (जो कि वस्तुतः वही है) आचार्य अभिनव ने समस्त आशङ्काएँ निरस्त कर दी हैं। किन्तु लक्षण काव्यशरीर कैसे हैं? यह विषय गम्भीर विवेचन का है, जिस पर पूर्व-शोधकर्ताओं ने प्राय कुछ विशेष प्रकाश नहीं डाला है। इसी कारण एक नवीन दृष्टि से इस वाक्य की व्याख्या अपेक्षित है।

'लक्षण' को 'शब्द एवं अर्थ' का संयुक्त रूप मानना चाहिए। मिट्टी पर ही मकान बनता है, और मिट्टी की ही दीवाल भी होती है, ठीक उसी प्रकार शब्दार्थरूपी आधार स्थल पर ही शब्दार्थमय, लक्षण नामक शरीरवाला काव्यसौध भी बनता है। आचार्य भामह के युग तक लक्षणों की प्रभा मन्द हो चली थी, उनका 'स्वरूपलक्षण' विनष्ट हो गया और केवल तटस्थलक्षण ही परिशेष रहा, अन्यथा भामह को 'शब्दार्थौ काव्यम्' न कह करके 'लक्षणमेव काव्यम्' कहना चाहिए था। काव्य की यह परिभाषा उतनी ही तर्कसंगत एवं सुस्थिर होती जितनी कि भामहोपदिष्ट परिभाषा है। क्योंकि लक्षण का तात्पर्य 'शब्दार्थसमष्टि' से है। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि 'शब्दार्थ काव्य' अवश्य है, किन्तु खण्डावबोध होने के कारण, काव्य लक्षण में उसका विशेष औचित्य नहीं है। अतएव, जिस प्रकार रक्त-मज्जा मांस एवं अस्थिसमूह, सब शरीर के आधारतत्त्व होते हुए भी, पृथक् पृथक् रूप में मनुष्य नहीं हैं, वरन् उन चारों का समष्टिरूप 'शरीर' ही चेतनात्मा से अनुप्राणित होकर 'मनुष्य' कहा जाता है,

ठीक उसी प्रकार ब्रह्मानन्द सहोदर रस रूपी आत्मा से समन्वित (शब्द-अर्थ सरीखे घटक तत्त्वों की समष्टि से निर्मित) तथा—लक्षणरूपी शरीरवाला 'प्राणी' ही 'काव्य' है।१६

अभिनव लक्षणों की व्याख्या और अधिक मनोयोग देकर करते हैं। 'लक्षण काव्यशरीर है' क्यों? क्योंकि शब्दार्थ से ही काव्य-रचना होती है, और 'लक्षण' भी शब्दों एवं अर्थों की समष्टि मात्र है। तब फिर हम 'लक्षणों' को काव्य से पृथक् कैसे मान सकते हैं? अतः निश्चित है कि लक्षण एवं काव्य का भेद किसी सूक्ष्मतत्त्व के ही कारण है, और वही सूक्ष्मतत्त्व है अभिनवगुप्त का 'त्रिविध अभिधा व्यापार'। काव्य की आत्मा (अर्थ) तो रस है, यह आचार्य भरत स्वयं स्वीकार करते हैं तथा अभिनव आदि ने भी (रस) ध्वनि के रूप में इस तथ्य को स्वीकार किया। किन्तु जैसे 'काव्यात्मा रस' की अनुभूति में 'साधारणीकरणादि' व्यापार उपयोगी हैं, ठीक उसी प्रकार 'काव्यशरीर' (लक्षण) की रचना में भी कोई न कोई व्यापार अवश्य होगा? यदि हम 'काव्य' शब्द की व्युत्पत्ति पर अवधान दें तो यह तथ्य स्वयं स्पष्ट हो जायेगा।१७ अभिनव के प्रामाण्यानुसार ही वर्णनीय, 'शब्दनीय' अथवा 'कविकर्म' होने के ही कारण किसी रचना को 'काव्य' कहते हैं। 'वर्णनीय' क्या है? अभिधेय, (अर्थात् अर्थ) क्योंकि अर्थ का ही व्याख्यान संभव होता है, न कि शब्द का। 'शब्दनीय' अर्थात् उच्चारण करने योग्य क्या है? अभिधान (अर्थात् शब्द या संज्ञाविशेष) अर्थात् जिसे हम शब्द द्वारा बुला सकें। कविकर्म क्या है? अभिधा (अर्थात् व्यापार विशेष) क्योंकि इसका सम्बन्ध व्यष्टि से न होकर समष्टि से है।

उदाहरणार्थ जब हम किसी व्यक्ति को 'राम' (उसका अभिधान) कह कर बुलाते हैं तो वह शब्दनीय होने के कारण अभिधान व्यापारयुक्त होता है। जब हम 'मैं बहुत थक गया हूँ' के रूप में, (अन्वित रूप से) एक अर्थविशेष की अभिव्यक्ति करते हैं तो वर्णनीय होने के कारण यहाँ 'अभिधेय रूप व्यापार' होता है। इसी प्रकार जब हम—महाकवि कालिदास कृत 'कुमारसंभव' (सर्ग ६ श्लोक ८४) में स्थित—'एवंवादिनिदेवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी। लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती' के रूप में कोई कविता पढ़ते हैं तो वहाँ कविकर्म होने के

---

१६. काव्य के 'मानवीयकरण' का यह प्रयास महाकवि राजशेखर के सिद्धान्त पर आधारित है। द्रष्टव्य—यदेतद्वाङ्मयं विश्वमथ मूर्त्या विवर्तते।
सोऽस्मि काव्यपुमानम्ब पादौ वन्देय तावकौ॥ आदि [काव्यमीमांसा]

१७. इह काव्यार्था रसा इत्युक्तं प्राक्। उक्तं च वर्णनीयं शब्दनीयं कवेः कर्मेति च व्युत्पत्तित्रयं काव्यमिति। अनेनाभिधेयमभिधानमभिधां च स्वकृत्यावस्थीयते, अपिच शब्दव्यापारोऽभिधातृव्यापारः प्रतिपाद्यव्यापारश्चेति त्रिगतः [अभिनव भा० पृष्ठ २९७]।

कारण ही अभिधाव्यापार होता है (यहाँ अभिधा को हम एक प्राथमिक तथा मौलिक शब्दशक्ति के रूप में स्वीकार कर रहे हैं, क्योंकि लक्षणा एवं व्यञ्जना का आधार अभिधा ही है)।

उपर्युक्त उदाहरणों से सुस्पष्ट है कि शब्द-अर्थ तथा कविकर्म (जो कि शब्दार्थ से पृथक् नहीं) में, अभिधान—अभिधेय तथा अभिधा रूप व्यापार ही उपयोगी बनते हैं, अर्थप्रतीति कराने के लिए। किन्तु यदि हम तात्त्विक दृष्टि से विचार करें तो यह तथ्य स्वयं स्पष्ट हो जाता है—कि शब्द तथा अर्थ 'कविकर्म' में ही अन्तर्भूत हैं क्योंकि 'कविता' शब्दों एवं अर्थों से ही प्रणीत होती है। ठीक इसी प्रकार अभिधान एवं अभिधेय भी अभिधा के ही अंगविशेष हैं। इस दशा में महत्त्व केवल (त्रिविध कविकर्म का) त्रिविध 'अभिधाव्यापार' का ही है। आचार्य अभिनव स्पष्टतः अपना निर्णय प्रस्तुत करते हैं—यस्तु त्रिविधोऽप्यभिधाव्यापारः स लक्षणानां विषयः (अभि० भा० पृष्ठ २९७)। आचार्य अभिनव की व्याख्यानुसार 'भावार्थगतानि' का अर्थ 'रसानुभूति' से है।[१८] इस प्रकार किसी भी काव्यांश में यही 'त्रिविध अभिधाव्यापार' उसमें प्रतिपादित 'भावार्थ' अर्थात् 'अभिप्राय' का ज्ञान कराता है।

किन्तु, 'भावार्थगतानि' का 'रसानुभूतिकारक' अर्थ लेने पर लक्षणों के प्रयोग में 'यथारसम्' पद का निर्देश अधिक सा प्रतीत होता है। वस्तुतः भाव का अर्थ—विभावानुभाव तथा संचारी भावों से है। उनका 'अर्थ' (प्रयोजन) है 'रस निष्पत्ति'। और 'लक्षण' हैं उस रसनिष्पत्ति को कराने वाले। किन्तु इस स्थल पर, यह समझ लेना चाहिए कि जिस 'त्रिविध अभिधा व्यापार' का अभी तक व्याख्यान किया गया है, उन्हीं के अंग हैं—विभावादिक। इस प्रकार स्पष्ट है कि 'अर्थगमन' (रसानुभूति) से अधिक महत्त्व 'भावसंघटन' (विभावादि संघटन) का ही है। लोक भाषा में यही 'भावसंघटन' अभिधया प्रतिपादित 'भावार्थ' या 'अभिप्राय' भी होता है, क्योंकि रस प्रतीति अर्थावगति के बाद ही होती है। अतः 'भावार्थ' या 'अभिप्राय' के दो अर्थ हुए—(काव्यपक्ष में) रसानुभूति तथा (लोकपक्ष में) काव्य का अर्थ। अतः यह एक सुदृढ़ मान्यता है कि आचार्य भरत के 'लक्षणविषयक प्रथम-तत्त्व' 'काव्येषु भावार्थगतानि' की यही व्यञ्जना है। 'भावार्थ अथवा अभिप्राय' से संबंधित डा० भट्टाचार्य तथा डा० देशपाण्डे आदि के मतों का मूल्याङ्कन भी यथाप्रसंग आगे किया जायेगा।

लक्षणों के विषय में भरत की दूसरी मान्यता यह है कि—उनका सम्बन्ध यथा कथञ्चित् रसों से अवश्य है। रसनिष्पत्ति के विषय में आचार्य भरत का ही सिद्धान्त आज तक माना जा रहा है। वह यह कि—'विभाव, अनुभाव तथा संचारीभावों के संयोग से ही रस की

---

१८ द्रष्टव्य, अभि० पृ० २९८ 'स्थायिभावरसीकरणात्मक' आदि।

निष्पत्ति होती है'। परवर्ती अलंकार युग में लोल्लट-शङ्कुक-भट्टनायक तथा अभिनव गुप्त जैसे भरत के व्यख्याकारों ने रसानुभूति के विषय में अपने विशिष्टसिद्धान्तों का स्थापन किया।१९ इस स्थल पर किन्हीं अन्य तथ्यों की व्याख्या न करके केवल यह दर्शित किया जा रहा है कि लक्षण किस प्रकार रसों से सम्बद्ध हैं। इस विषय में हम 'अभिनव' द्वारा व्याख्यात 'त्रिविध अभिधा व्यापार' समझ ही चुके हैं। 'शब्द तथा अभिधातृ' (अर्थात् अभिधेय एवं अभिधान) व्यापार का क्षेत्र स्पष्टतः प्रतिपाद्य (अभिधा) व्यापार से कम है। जब कवि कोई काव्य लिखने बैठता है तो उसके समक्ष अनन्त शब्द तथा उतने ही अर्थ उपस्थित रहते हैं। 'नवसर्गगते माघे नव शब्दो न विद्यते' आदि सुभाषितों का यही तात्पर्य है। कवि जिन शब्दों अथवा अर्थों को अपने काव्य में निबद्ध करता है, वही शब्दार्थ, विन्यास करने की विदग्धरीति के कारण सहृदय जगत् को मोहित कर लेते हैं।२० जैसे, साल भर सूखे एवं साधारण प्रकृतिस्थ रहने वाले, वही चिर परिचित वृक्ष वासन्ती सुषमा के कारण कायाकल्प उपस्थित कर देते हैं, ठीक वही दशा रसपरिग्रह के कारण शब्दार्थ की भी होती है ऐसा आचार्य आनन्दवर्धन का मत है।२१

यह रसानुभूति होती कैसे है? विभावानुभाव एवं संचारी भावों के संयोग से। और ये विभावादि क्या हैं? त्रिविध अभिधाव्यापार ही तो! अतः हम निश्शङ्क रूप से यह निर्णय दे सकते हैं कि रसानुभूति के मूल कारण 'त्रिविधाभिधाव्यापार युक्त लक्षण' ही हैं। जैसे लोक में किसी वृद्ध द्वारा 'लोटा लाने का आदेश पाकर' सम्बुद्ध बालक (आवापोद्वाप क्रिया के पश्चात्) लोटा ही लाता है, ठीक उसी प्रकार, कवि जब कुछ लिखते बैठता है तो वह यह विचार अथवा निश्चय मन में पहले ही कर लेता है कि—'मैं अपने इन शब्दों से, (अमुनाशयेन) पाठकों, दर्शकों अथवा श्रोताओं में अमुक प्रकार की बुद्धि उत्पन्न करने के लिए, (इथम्भूत बुद्धिजननाय) अमुक अमुक आशयों से युक्त इस काव्य (विशेष) का प्रणयन कर

---

१९ सविस्तर द्रष्टव्य, आचार्य मम्मट कृत 'काव्यप्रकाश' का चतुर्थ उल्लास। आचार्य भरत प्रोक्त रससूत्र—'विभावानुभावसञ्चारिभावसंयोगाद्रसनिष्पत्तिरिति' (नाट्य० अ० ६) तथा उसका चतुर्धा व्याख्यान।

२०. यानेव शब्दान्वयमालपामः यानेव चार्थान्वयमुल्लिखामः।
तैरेवविन्यासविदग्धरीत्या सम्मोहयन्ते कवयो जगन्ति॥ श्रीनीलकण्ठ दीक्षित कृत 'शिवलीलार्णव' महाकाव्य, १।१३।

२१. द्रष्टव्य, ध्वन्यालोक ४।४।

रहा हूँ।२२ उदाहरणार्थ-रघुवंश की रचना के पूर्व कालिदास ने अवश्य यह कल्पना की होगी कि—'सोऽहमाजन्मशुद्धानाम्' इत्यादि द्वारा हमें रघुवंशियों का उदात्त चरित तथा 'स्थितः स्थितामुच्चलित प्रयाताम्' आदि द्वारा गोसेवा का परिपूत आदर्श देशवासियों के समक्ष रखना है। इसी प्रकार मृच्छकटिक, उत्तररामचरित, मुद्राराक्षस, भट्टिकाव्य, तथा भाणरचनाओं में कवियों की धारणा क्रमश इस प्रकार की रही होगी—सामाजिक याथार्थ्य का उपन्यसन, दाम्पत्य प्रेम का पवित्र आदर्श दिखाना, राजनैतिक दाँव-पेंच का उपस्थापन, व्याकरण परिचय तथा समाज की निम्नवर्गीय कुरीतियों का पर्दाफाश, या मनोविनोद।

तात्पर्य यह कि प्रयोजन निश्चित करने के पश्चात् ही कवि तदनुकूल ही विभावानुभाव का संयोजन करता है। इतना तो स्पष्ट ही है कि कवि का लक्ष्य किसी न किसी रस-अथवा भाव से अवश्य ही सम्बद्ध होगा। अतएव, वह चित्तवृत्त्यात्मक रस को लक्षित करके उन उन रसों की अनुभूति कराने में सर्वथा सक्षम एवं सफल विभावानुभाव तथा संचारीभावों को ही एकत्रित करता है। शृङ्गार रस के प्रसंग में जो विभावानुभाव तथा संचारीभाव होंगे रौद्र में वही न होंगे। महाकवि भवभूति के ही दो नाटकों को लीजिए। महावीरचरित तथा उत्तररामचरित दोनों में नायक राम ही हैं। किन्तु वीरचरित में सीताराम का विश्वामित्र के यज्ञानुष्ठान में अनायास मिलन, प्रणयानुक्रम, धनुर्भङ्ग, परशुरामप्रसंग, रामभद्र की शालीनता आदि कथांश इस प्रकार के आलम्बन तथा उद्दीपन विभावों अनुभावों एवं संचारीभावों की सर्जना करते हैं जिनसे कि यथास्थान वीर एवं शृङ्गार रस उद्दीप्त हो उठते हैं। किन्तु प्रिया-विरह से संतप्त वही श्रीराम उत्तरचरित में हृदयद्रावी करुणरस के कारण बनते हैं क्योंकि वहाँ पर बारहवर्ष पूर्व दण्डकारण्य की घटनाएँ, पालित गजशावक का अभियव, शिखण्डी का नर्तन, गोदावरी परिसर स्थित गिरिशृङ्खलाएँ, गुहर स्रोत एवं वेतसकुञ्ज सरीखे कारुण्याभिव्यञ्जक विभावादि उद्दीपन रूप में उपस्थित होते हैं।

अतः सिद्ध है कि काव्य का प्राणभूत रस, प्रत्येक दृष्टि से, काव्य में प्रयुक्त विभावादि पर ही निर्भर है। और ये विभावादि भी शब्द-अर्थ तथा कविकर्म होने के कारण त्रिविध अभिधाव्यापार से किसी भी रूप में भिन्न नहीं हैं। विभावादि का वैचित्र्य ही रसवैचित्र्य

---

२२ तथा हि इदमनेन शब्देनानयेति कर्तव्यतयाऽमुनाशयेनेत्थम्भूतबुद्धिजननाय ब्रुवे इति कविः प्रवर्तते स तथाभूत रसवत्काव्य विधत्ते। तत्र चित्तवृत्त्यात्मक रस लक्ष्यस्तद्रसोचितवि-भावादिवैचित्र्यसम्पादकस्त्रिविधोऽभिधाव्यापारो लक्षणशब्देनोच्यते इत्येषां सामान्य लक्षणम् (अभि० पृ० २९७)।

का मूल कारण है। काव्य (नाटक) का शृङ्गार-करुण-वीर-रौद्र-हास्य वीभत्स-अद्भुत अथवा शान्त रस प्रधान होना इन उन रसों के घटक अंगों (विभावादिकों) पर और वे घटक अंग भी 'त्रिविध अभिधा व्यापार' पर ही आधारित हैं। यही त्रिविध अभिधा व्यापार 'लक्षण' अर्थात् 'काव्यशरीर' है। इस प्रकार लक्षणों का रसों के साथ प्रकारान्तर से अनुग्राह्यानुग्राहक संबन्ध है।२३

विभावादि में शब्दों की शब्दों से तथा अर्थों की अर्थों से विचित्र संघटना होती है, किन्तु लक्ष्य इन सब का एक ही है— रसानुभूति करना। आचार्य भरत की इस मान्यता को अभिनवगुप्त ने स्पष्टतः स्वीकार किया है—'शब्दानां शब्दैरर्थानामर्थैः शब्दानामर्थैस्तथापरैः संघटनां विचित्रां कारयमाणाऽऽभिधाव्यापारवतीह्युक्तिर्निर्वाणप्रधानधुराधिरोही लक्षणाख्य एव। (अभि० पृ० २९७)।

अब नाट्य आचार्य भरत द्वारा उपदिष्ट, लक्षणों के तृतीय पक्ष का युक्तिपूर्ण स्पष्टीकरण अपेक्षित है, वह पक्ष है—'लक्षणों का भूषणसंमितत्व' अर्थात् काव्य का शोभाकारक तत्त्व होना। भूषणों के साथ लक्षणों का पर्यायस्थापन तथा 'भूषण का शोभाजनकत्व' ये दोनों ही प्रश्न बड़े महत्व के हैं क्योंकि इन्हीं के कारण लक्षणों के विषय में परवर्ती युग में दो उद्भावनाएँ प्रचलित हो गईं। एक तो यह कि—'लक्षण' शब्द की अपेक्षा अधिक सरल स्पष्ट तथा अन्वर्थनामा होने के कारण अधिकांश आचार्यों ने लक्षणों के स्थान पर 'भूषण' शब्द का ही प्रयोग किया। और दूसरा यह कि—काव्य के शोभाकारक तत्त्व होने के कारण ही अलङ्कार-सम्प्रदाय के प्रचण्ड युग में लक्षणों की स्वतंत्र सत्ता मिट सी गई और वे सब दिन के लिए अलंकारों में अंतर्भूत हो गए।

इस दशा में यह विचारणीय प्रश्न है कि लक्षणों का गुणों एवं अलंकारों से क्या संबन्ध है? 'काव्यबन्धास्तुकर्तव्याः षट्त्रिंशल्लक्षणान्विताः' कहने से इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि आचार्य भरत काव्यबन्ध के क्षेत्र में लक्षणों को सर्वाधिक महत्त्व देते थे। इसी कारण उन्होंने 'लक्षणान्वित काव्यरचना' करने की प्रेरणा दी। यदि उन्हें अभीष्ट होता तो वे गुणों एवं अलंकारों के विषय में भी ऐसी ही घोषणा करते।२४ वस्तुतः भरत की दृष्टि में अलंकार तथा

---

२३. यथारसं ये भावाविभावानुभावव्यभिचारिणः तेषां योऽर्थः (तं) स्थायिभावरसीकरणात्मकं प्रयोजनान्तरं गतानि प्राप्तानि, यदभिधाव्यापारोपसंक्रान्ता उद्यानादयोऽर्थास्तद्रसविशेष विभावादिभावं प्रतिपद्यन्ते, तानि लक्षणानि इति सामान्यलक्षणम् (अभि० पृ० २९८)।

२४. यथा च पीवरत्वं स्तनयोर्लक्षणं मध्यस्य तु कुलक्षणं एवं किञ्चिदभिधीयमानं केनचिद्रूपेण रसोचितेन विभावादिरूपेण तमेव पदार्थक्रमं लक्षयल्लक्षणम् अन्यत्र तु तत्कुलक्षणम्। तेन सर्वेऽलङ्काराः गुणास्तत्समुदायाद् विलक्षणा भवन्ति [अभि० पृष्ठ २९७]।

गुण लक्षणों के अगमात्र थे, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। इसका स्पष्टीकरण भी अनुवर्ती अनुच्छेद में होगा।

गुण तथा अलङ्कार हैं क्या? आचार्य अभिनव ने इसका अत्यन्त युक्तियुक्त समाधान प्रस्तुत किया है।[२५] क्योंकि उनके मन्तव्यानुसार गुणालङ्कार उसी समष्टिरूप त्रिविध अभिधा व्यापार (अर्थात् काव्यशरीर = लक्षण) की इकाई हैं, व्यष्टि रूप हैं। कोई भी शब्द जब रसाभिव्यक्ति में सक्षम अर्थ वा प्रतिपादन करे, श्रोताओं के कर्णकुहरों में (स्वय) सक्रान्त भर हो जाने पर बिना किसी व्यवधान के रस विशेष की अनुभूति करा दे तो गुणशब्दवाच्य होता है। इसी प्रकार वही शब्द वर्ण (एक अक्षर) या पद (अक्षरसमूह) रूप में आवर्तित होने पर शब्दालङ्कार बन जाता है। इस प्रकार शब्दगुण तथा शब्दालकार की सारी प्रक्रिया शब्द पर ही आश्रित है।

शब्द की ही भाँति जब कोई अर्थ (वर्णनीय) रसाभिव्यक्ति का हेतु बने तो अर्थगुण तथा वस्त्वन्तर का परिचायक (उदा० 'मुखमिदम्' सीधे न कह कर 'मुखचन्द्रोऽयम्' कहना। यहाँ मुख के स्थान पर एक अन्यवस्तु 'मुखचन्द्र' का हम परिचय प्राप्त करते हैं) होने पर 'अर्थालङ्कार' कहा जाता है।

किन्तु इस विवेचन से इतना तो स्पष्ट ही हो गया कि शब्द-गुण शब्दालङ्कार तथा अर्थगुण अर्थालङ्कार ये चारों ही तत्त्व केवल शब्द एव अर्थ के ही (शब्दनीय एव वर्णनीय वैशिष्ट्य से युक्त) व्यापार पर समाश्रित हैं और इनका नैरन्तर्य होने पर सम्भव है कि ये विशाल सख्या में भी आएँ। किन्तु इनका आधार प्रत्येक दशा में अभिधाव्यापार ही होगा क्योंकि काव्य में अर्थावगति (जो अभिधा व्यापार से ही सभव है) प्राथमिक वस्तु है तथा उस अर्थ का गुणालङ्कार-युक्त होना गौण। अतएव, जैसे (प्रासाद के दृष्टान्त में) चित्रों के आलम्बित किए जाने का एकमात्र स्थान उसकी भित्तियाँ (शरीर) हैं अथवा (शरीर के दृष्टान्त में) आभूषणों के पहनने का एकमात्र स्थान युवती के विभिन्न शारीरिक अग हैं, ठीक उसी प्रकार गुणों तथा अलङ्कारों का आधार स्थल त्रिविध अभिधा व्यापार युक्त लक्षणमात्र हैं जो कि 'काव्यशरीर' कहे गए हैं। इस प्रकार लक्षणों तथा गुणालकारों में 'आधाराधेय' अथवा 'अनुग्राह्यानुग्राहक' सबध मान्य है।[२६] अत परवर्ती युग में अलकार को ही 'काव्यात्म-

---

२५ सविस्तर द्रष्टव्य, अभिनव भारती पृ० २९७ (गुणालकार व्याख्यान)।

२६ तथा स्वार्थोऽपि च कचिदर्थमात्र, क्वचिदलकारोऽर्थत, क्वापि चित्रत, क्वचिदलकारादि प्रक्रियाविहीनोऽपि स्वय सुन्दरस्वभावोऽर्थ, कुत्रचिच्छन्द इति त्रिविधव्यापारगामी, तद्द्वारेणाभिधानाभिधेय तद्गुणालङ्कारायनुग्रह लक्षणाख्य एव (अभि० पृ० २९७)।

तत्त्व' स्वीकार करने वाले आचार्यों ने लक्षणों तथा अलंकारों के इसी पारस्परिक साम्य एवं सम्बन्ध के कारण उनका अन्तर्भाव लक्षणों में कर दिया। आचार्य दण्डी ने स्पष्टतः कहा—

यच्च सन्ध्यङ्गवृत्त्यङ्गलक्षणाद्यागमभान्तरे
व्यावर्णितमिदं चेष्टमलङ्कारतयैव नः ॥ काव्यादर्श २।३६५

इसी प्रसंग में हम यह भी देख लें कि लक्षण 'भूषण' कैसे हैं। पिछले अनुच्छेदों में प्रायः यह तथ्य स्पष्ट किया जा चुका है कि अभिनव ने रसवैचित्र्य का कारण विभावादि वैचित्र्य (अर्थात् त्रिविध अभिधाव्यापार या लक्षण वैचित्र्य) ही स्वीकार किया है। तथा यह भी स्पष्ट है कि गुण एवं अलंकार शब्दार्थ व्यापार होने के ही कारण लक्षणों से पृथक् नहीं हैं। अतः अलंकारों द्वारा प्रसूत समस्त काव्यसुषमा का मूल कारण 'लक्षण' ही है२७। लक्षण 'काव्य शरीर' हैं, यदि शरीर में ही लावण्य अथवा कमनीयता न रही तो लाख गहने भी उसे रमणीय नहीं बना सकते। इसके विपरीत अभिधा व्यापार के बल से, शब्दार्थ की विचित्र संघटना कराने के कारण लक्षण स्वयं एक अव्यक्त सौन्दर्य से व्याप्त रहता है। उसे बाहरी अलंकारों की आवश्यकता नहीं रहती। हाँ यदि लक्षणों के रहते भी गुण एवं अलंकार किसी काव्य में आयें तो उनका मणिकाञ्चन संयोग होगा और लक्षणों का साहाय्य पाकर वे और भी उद्दीप्त हो उठेंगे। अलंकारों तथा गुणों को इसी उभयनिष्ठ गुणवत्ता के कारण आचार्य अभिनव ने पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकृत यह मत उपन्यस्त किया—(तत्रकल्पनायां विप्रतिपत्तयः) केचिदाहुः—इह गुणास्तावदात्मनि चिन्मये शृङ्गारादौ वर्त्तन्ते। शृङ्गारे चावश्यं च लक्ष्यते इति पृथक्सिद्धत्वादलङ्कारः। शरीरनिष्ठमेव यत्पदं पृथक्सिद्धं तल्लक्षणम्। येन शरीरस्य सौन्दर्यं जायते। तच्च सिद्धरूपं साध्यरूपं वा। यथा श्यामेति, मदमन्थरगामिनीति वा। एतदेव लक्षणं तच्चालंक्रियते। अलंकारैर्युक्तं काव्यं लक्षणैर्विना न शोभते…[अभि० पृ० २९५]

अतएव 'भूषणसंमित' की पूर्ण व्यञ्जना, लक्षणों के स्वयं शोभाकारक तत्त्व होने में हैं। 'लक्षण तथा अलङ्कार' दोनों ही काव्य के शोभाकारक तत्त्व हैं, भूषण हैं। अन्तर केवल दोनों में यही है कि लक्षण कृत शोभा काव्य का अपृथक्सिद्ध धर्म है जब कि गुणालंकार कृत शोभा उसका 'पृथक् सिद्ध धर्म' है। एक काव्यसुषमा का अन्तरंग पक्ष है तो दूसरा बहिरंग पक्ष२८। एक 'शोभा' उत्पन्न करता है किन्तु दूसरा (लक्षण) स्वयमेव शोभारूप है।

---

२७. अतएव पूर्वं 'काव्यबन्धास्तु कर्तव्याः षट्त्रिंशल्लक्षणान्विताः' इति लक्षणान्येव हि प्रधानं तत्प्रसंगेन गुणालंकारा इति तात्पर्यम् (अभि० पृ० २८९)।

२८. द्रष्टव्य पूना ओरिएंटलिस्ट में डा० के० कृष्णमूर्ति का लेख भाग १२ पृ० २३-३३।

लक्षणों के इसी वैशिष्ट्य को ध्यान में रख कर परवर्ती युग में उन्हें 'नाट्यालङ्कार' की परिधि में भी अन्तर्निविष्ट किया गया।[२९]

निष्कर्ष यह है कि लक्षण काव्य का शरीर है। उसी के कारण काव्य 'काव्य' है। डा० के० कृष्णमूर्ति का उनके उपरि संकेतित लेख में एतद्विषयक कथन सर्वथा युक्तियुक्त है—अर्थात् लक्षण सौम्यत्व की उभरी रेखाएँ हैं जिसकी उपस्थिति हमें तत्काल कविता का परिचय प्रदान करती है।'

जैसे शरीर बिना किसी बाह्याभूषण अथवा चाकचिक्य के अपने आप ईश्वर-प्रदत्त कमनीयता से भरा आकर्षक एवं मांसल होता है, उसी प्रकार काव्यबन्ध भी गुण एवं अलंकार से हीन होने पर भी स्वतः सौन्दर्यवान् होता है और जिस तत्त्व के संयोग से काव्य में यह 'स्वाभाविक सौन्दर्य' उत्पन्न होता है उसी का नाम 'लक्षण' है जो कि त्रिविध अभिधाव्यापार कृत विचित्र संघटना (शब्दार्थ की) का परिणाम है। शब्द-अर्थ सब उसी 'स्वाभाविक सौन्दर्य' के अंगविशेष हैं, अभिधाव्यापार उसी का पर्याय है, गुणालङ्कार उसी की विशिष्ट कोटियाँ हैं। जैसे कोई शरीर मोटा, कोई पतला, कोई ऊँचा, कोई नीचा, कोई गोरा, कोई काला, कोई साँवला और कोई अन्यान्य गुणयुक्त होता है, किन्तु वस्त्राभूषण के अभाव में भी, जैसे वह स्वयं 'अपनेपन' के कारण एक विशिष्ट सौन्दर्य युक्त होता है, ठीक उसी प्रकार भूषणप्रभृति छत्तीस लक्षणों के सहयोग से निर्मित उतने ही प्रकार का (अथवा असंख्य प्रकार का[३०]) काव्यबन्ध, गुणालङ्कार से सर्वथा अस्पृष्ट होकर भी एक 'सहजसौन्दर्य' अथवा 'अपनेपन' से युक्त होता है। यही 'अपनापन' लक्षण है।

ऊपर लक्षण के दो वैशिष्ट्यों का निराकरण किया गया है—एक तो उनका (अभिधा) व्यापार प्राधान्य तथा दूसरा—स्वाभाविक सौन्दर्य से युक्त होना। किन्तु यदि हम इन दोनों वैशिष्ट्यों के मूल पर जाँय तो प्रतीत होगा कि इन दोनों में भी तात्त्विक एकता ही है। आचार्य अभिनव ने इस बात पर अनेकशः तर्क प्रस्तुत किये हैं। 'व्यापार प्राधान्य' को प्रमाणित करने के लिए उन्होंने आचार्य भामह तथा भट्टनायक का मत भी उद्धृत किया है। भामह[३१]

---

२९ विश्वनाथ कृत 'साहित्य दर्पण' षष्ठ परिच्छेद (नाट्यालंकार विवेचन)।

३० द्रष्टव्य, एतद्विषयक अभिनव गुप्त का प्रमाण—षट्त्रिंशदिति च नान्यदिति धारणपरं कविहृदयवर्तिनामपराणामपरिसङ्ख्येयत्वात्। किन्तु बाहुल्येन तावदियता लक्ष्यव्याप्तिः, इयति च कवितास्वरूपानुगमिति सङ्ख्यानिरूपणम् (अभि० पृ० २९८)।

३१ भामहेनापि—"सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते" (२-८५) इत्यादि तेन च परमार्थो व्यापार एव लक्षणम् [अभि० पृ० २९८]।

का मत था कि अर्थविभावन करानेवाली जितनी भी काव्यविधाएँ हैं वे सब 'वक्रोक्ति' ही हैं। यहाँ 'उक्ति' का अर्थ व्यापार से ही है अतः वक्र-उक्ति का तात्पर्य वही है जो त्रिविध अभिधाव्यापार के विभावादि वैचित्र्य का है।

इसी प्रकार भट्टनायक[३२] ने भी शब्दप्राधान्य होने पर आख्यान तथा शब्दार्थ-दोनों के साहचर्य में व्यापारप्रधान तत्त्वविशेष को काव्य कहा है। इस प्रकार भामहोपदिष्ट वक्रोक्ति को भाँति भट्टनायक की यह 'व्यापारप्रधानकाव्यगीः' भी लक्षणों से व्यतिरिक्त नहीं हैं।

किन्तु आचार्य भामह की 'वक्रोक्ति' का 'लक्षण' के साथ तादूप्य केवल उसके व्यापार-प्रधान' होने से ही नहीं है। प्रत्युत् स्थिति तो यह है कि लक्षणों की ही भाँति वक्रोक्ति, का भी एक और पक्ष है—'स्वाभाविक सौंदर्य', यह अवधेय तथ्य है कि भामह की वक्रोक्ति परवर्ती युग में प्रचलित एक विशिष्ट (शब्द या अर्थ का) अलङ्कार न होकर अत्यन्त प्रभाव-शालिनी एवं विशाल आयाम वाली है[३३]। भामह ने स्पष्टतः उसे काव्य का 'मान्य सौन्दर्य अथवा 'भङ्गीभणिति' रूप में स्वीकार किया है। इस दशा में वह समस्त काव्यालङ्कारप्रकारों को जननी है।

काव्यविभाजन के प्रसंग में भामह के समक्ष एक समस्या थी। वह यह कि 'अनिबद्ध या मुक्तक' काव्य का सर्गबन्धों के अनुपात में क्या स्थान है? इस प्रश्न का उत्तर आचार्य प्रथम परिच्छेद की तीसवीं कारिका में प्रस्तुत करते हैं—

अनिबद्धं पुनर्गाथाश्लोकमात्रादि तत्पुनः।
युक्तं वक्रस्वभावोक्त्या सर्वमेवैतदिष्यते॥

भामह के इस प्रामाण्यानुसार सिद्ध है कि वक्रोक्ति तथा स्वभावोक्ति ही काव्य को 'काव्यरूप' देती हैं। वक्रोक्ति का तात्पर्य जैसा कि ऊपर बताया जा चुका हैं 'उक्तिवैचित्र्य' अथवा

---

३२. भट्टनायकेनापि त एव (?) शिक्षित्वाभिधाव्यापारप्रधानं काव्यमित्युक्तम्—
शब्दप्राधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग्विदुः अर्थे तत्त्वेन युक्ते तु वदन्त्याख्यानमेतयोः।
द्वयोर्गुणत्वेव्यापारप्राधान्ये काव्यगीर्भवेत्॥

३३. आचार्य दण्ड ने भी 'वक्रोक्ति' को इसी रूप में स्वीकार किया है—
श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।
भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिवक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्॥
(काव्यादर्श २।३६३)

'वचनभङ्गी' से है। तथा 'स्वभावोक्ति' का तात्पर्य भी किसी वस्तु के सहजवर्णन से है। इसी प्रकार प्रथमपरिच्छेद की चौंतीसवीं कारिका में—

अपुष्टार्थमवक्रोक्ति प्रसन्नमृजुकोमलम्
भिन्न गेयमिवेद तु केवल श्रुतिपेशलम् ॥

तथा छत्तीसवीं कारिका में—

न नितान्तादिमात्रेण जायते चारुता गिराम्।
वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टावाचामलङ्कृति ॥

आदि का उपन्यसन करके भामह स्पष्ट 'वक्रोक्ति' को 'वाचामलङ्कृति' के रूप में स्वीकार करते हैं। पञ्चम अध्याय में उनका 'तदेभिरङ्गैर्भूष्यन्ते भूषणोपवनस्रज वाचां वक्रार्थ शब्दोक्तिरलङ्काराय-कल्पते' आदि कथन भी इसी सैद्धान्तिक सत्य का साक्षी है। इन समस्त उद्धरणों से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि 'वक्रोक्ति' का अन्य अलकारों से ठीक वही सम्बन्ध है जो लक्षणों का है। क्योंकि लक्षण 'त्रिविध अभिधा व्यापारमय' होने के कारण शब्दार्थ की पारस्परिक विचित्रसघटना (शब्दालकार एव अर्थालकार) उत्पन्न करते हैं, अत वास्तव में वे ही काव्यालङ्कारों के उत्पादक हैं। और यही कार्य (अभिनव के मतानुसार) व्यापार प्रधान 'वक्रोक्ति' भी करती है। वस्तुत 'वक्रोक्ति' पद अत्यन्त साकूत एव साभिप्राय सा प्रतीत होता है। क्योंकि 'वक्र' पद का संकेत 'शब्दार्थ की विचित्र सघटना' (भङ्गीभणिति) से तथा 'उक्ति' पद का सकेत 'व्यापार-प्राधान्य' से ही है। अत अभिनवगुप्त का पूर्व व्याख्यान सर्वथा तर्क सगत एव उचित है। इस विषय में डा० प्रकाशचन्द्र लाहिरी द्वारा स्थापित 'कुन्तक की वक्रोक्ति तथा लक्षण का तादूप्य' भी यथासन्दर्भ आगे निरूपित किया जायेगा।

लक्षण एव वक्रोक्ति सबधी इस व्याख्यान से स्पष्ट हो जाता है कि दोनों में कोई भेद नहीं। इसी कारण आचार्य अभिनव कहते हैं—'बन्धो गुम्फ भणिति वक्रोक्ति कविव्यापार' इति हि पर्यायात् लक्षण तु अलकारशून्यमपि न निरर्थकम्—[अभि० पृष्ठ ३२२] उनकी इस मान्यता के पश्चात् यदि हम आचार्य भामह की यह कारिका देखें—

'सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविभि कार्यो कोऽलकारोऽनयाविना' २।८५

(यहाँ अवधेय बात यह कि प्रस्तुत कारिका भामह ने ग्यारहवे अलकार "अतिशयोक्ति' के

प्रसंग में कहा है, अतः इसका 'परामर्शक्षेत्र' निश्चित सा है) तो लक्षणों के साथ वक्रोक्ति का सम्बन्ध स्वयं स्पष्ट हो जाता है। इस सम्बन्ध में डा० जी० टी० देशपाण्डे द्वारा प्रस्तुत 'लक्षण वक्रोक्ति तुलना' का उल्लेख आवश्यक है जो कि इस प्रकार है—'नाट्य के लक्षणों का कार्य है अर्थों का विभावन'। वह कार्य काव्य में वक्रोक्ति ने करना आरम्भ किया। वक्रोक्ति का यह विभावन कार्य भामह ने 'अनयार्थो विभाव्यते' इस प्रकार स्पष्ट रूप में बताया है। 'लक्षणों से अलंकारों में वैचित्र्य सिद्ध होता है यह भट्टतौत का कहना है। 'कोऽलंकारोऽनया विना' यह भामह का कथन है। 'काव्यबन्धलक्षणयुक्त रहना चाहिए' यह भरत मुनि का कथन है, और भामह कहते हैं 'यत्नोऽस्यां कविभिः कार्यः'। सारांश लक्षणों का स्वरूप, प्रयोजन एवं परिणाम इन सब का संक्षेप उल्लेख भामह ने अपने वक्रोक्ति के विषय में लिखी प्रसिद्ध कारिका में किया है—सैषा सर्वैव वक्रोक्ति 'आदि' [भारतीय साहित्यशास्त्र पृ० ५१]।

इस प्रकार आचार्य भरत के लक्षण विषयक मत लक्षणों की उपयोगिता तथा संख्या पर भी अपेक्षित प्रकाश डाला जा चुका। किन्तु एक समस्या यह उठ सकती है कि भरत के पूर्व इन लक्षणों की क्या परिस्थिति थी? इस विषय में शोधकर्ता की स्पष्ट धारणा है कि अभिनवगुप्त द्वारा व्याख्यात लक्षणों की दशपक्षी ही उनकी पूर्वावस्था है। यद्यपि, डा० देशपाण्डे जी ने बहुत प्रयत्नपूर्वक निरुक्त एवं मीमांसा ग्रन्थों के आधार पर लक्षणों की प्राचीनतम स्थिति सिद्ध करने एवं दिखाने की चेष्टा की है किन्तु उसमें यथेष्ट मौलिकता नहीं है।३४ क्योंकि वह व्याख्यान अभिनव प्रोक्त 'दशपक्षी' का ही एक पक्षविशेष है, अतः उसी को ही विशेष रूप से लक्षणों की पूर्वस्थिति स्वीकार करना कल्पना गौरवमात्र है। यदि हम 'मीमांसा तथा निरुक्त' शास्त्र की (भरत की अपेक्षा) प्राचीनता के ही आधार पर डा० देशपाण्डे जी के व्याख्यान को उचित मानना चाहें तो इस विषय में यह प्रस्ताव प्रस्तुत करना ही अधिक संगत है कि 'दशपक्षी' के छठें तथा सातवें विकल्पों को ही मिला कर क्यों न लक्षणों का प्राचीनतम स्वरूप माना जाय। क्योंकि 'प्रबन्ध का धर्म' अथवा कवि का अभिप्रायविशेष होने के कारण उनकी व्याप्ति ऋग्वेद के मन्त्रों तक होगी। वस्तुतः सत्य है कि आचार्य

---

३४. इस उद्गार से हमारा आक्रोश विद्वान् लेखक के प्रति बिलकुल नहीं हैं क्योंकि अभिप्रायों का स्वरूप निश्चित करने के लिए विद्वान् आलोचक ने जो शोध की है, वह अवश्य ही श्लाघ्य एवं स्तुत्य है। हम उससे पूर्णतः सहमत हैं। यहाँ प्रश्न यह है कि दशपक्षों में से एक विशेष पक्ष (मीमांसा संबंधी) को ही क्यों, पूर्वतत्त्व स्वीकार किया जाय जब कि 'काव्य-परम्परा' यास्क के प्रमाणानुसार वेदों में ही आरम्भ हो चुकी थी। देशपाण्डे जी स्वयं इस तथ्य को स्वीकार करते हैं (द्र० युगवाणी-मराठी-जनवरी १९५१ ई०)।

अभिनव ने लक्षणों के विषय में प्रचलित दश मतों का संग्रहमात्र किया है। इस संग्रह कार्य में उनकी यह दृष्टि कभी नहीं रही कि इनमें से कौन मत भरत से पहले का है और कौन बाद का? सम्भव है वे सब के सब भरत के बाद के हों। सम्भव है कि लक्षणों के महिमामय सिद्धान्त की सृष्टि सर्वप्रथम आचार्य भरत ने ही की हो। किन्तु हाँ, इतना तो सुदृढ सत्य है कि 'दशपक्षी' आचार्य अभिनव की पूर्ववर्तिनी है और इनके व्याख्याता भी भरत तथा अभिनव के मध्यवर्ती आचार्यगण हैं।

'दशपक्षी' लक्षणों के विषय में प्रचलित दश सिद्धान्तों का सकलन है जिसे सर्वप्रथम आचार्य अभिनव ने प्रस्तुत एव व्याख्यात किया। किन्तु नाट्यशास्त्र के विभिन्न सस्करणों में उनके प्रतिपादन का क्रम पूर्णत उलट पलट गया है। इसी कारण डा० राघवन् जिन्होंने मद्रास पुस्तकालय में उपलब्ध एक पाण्डुलिपि-विशेष के आधार पर लक्षणों का अध्ययन किया था, उनका अनुक्रम अशत भिन्न स्वीकार करते हैं।

प्रो० भट्टाचार्य ने पूर्णरूप से 'बड़ौदा सस्करण' में स्थित अभिनवभारती के क्रमानुसार लक्षणों का क्रम स्वीकार किया है और यही क्रम उचित एव अभीष्ट भी है। अत तुलनात्मक रूप से विचार करने पर हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि—

[क] (बड़ौदा सस्करणानुसार) प्रथम-द्वितीय तथा दशम पक्ष डा० राघवन् ने उसी रूप में स्वीकार किया है।

[ख] इसी प्रकार (ब० स० स्थित) चतुर्थ-षष्ठ-सप्तम-अष्टम एव नवम पक्ष क्रमश डा० राघवन् के तृतीय-चतुर्थ-पञ्चम षष्ठ एव सप्तम पक्ष हैं।

[ग] (ब० स० स्थित) तृतीय एव पञ्चम पक्ष का डा० राघवन् की 'दशपक्षी' में कोई उल्लेख नहीं (केवल पञ्चम पक्ष की एक पंक्ति डा० राघवन् के चतुर्थ पक्ष में है)।

[घ] डा० राघवन् के अष्टम एव नवम पक्ष, बड़ौदा सस्करण स्थित नवम पक्ष के ही अग हैं, उनसे पृथक कर लिये गये हैं।

अब इसी 'विवेकबुद्धि' के साथ प्रस्तुत दशपक्षी पर कुछ प्रकाश डाला जा रहा है।

(अगले अक में समाप्य)

प्रसन्न साहित्य रत्नाकर : सुभाषित काव्य एक पर्यवेक्षण

श्रीमन्नारायण द्विवेदी

संस्कृत साहित्य में सुभाषित संग्रह की एक विस्तृत परम्परा उपलब्ध होती है। इनमें संस्कृत के विभिन्न कवियों की नीति, भक्ति, शृंगार तथा अन्य व्यावहारिक विषयों से सम्बद्ध रचनायें उपलब्ध होती हैं। इन रचनाओं का वैशिष्ट्य कतिपय दृष्टियों से उल्लेखनीय है। सामान्यतया कवियों महाकवियों की रचनाओं की समग्रता में इनका महत्व गौण समझा जाता है किन्तु कुछ संदर्भों में इनका अन्यतम महत्व है। संग्रहों में एक ही विषय से सम्बद्ध विभिन्न कवियों की रचनाओं का सुन्दर संकलन एक ही स्थान पर उपलब्ध हो जाता है। इन संग्रहों से कतिपय ऐसे कवियों का अभिज्ञान होता है जिससे साहित्यिक जगत् अपरिचित रहता है। पाणिनि, वल्लालसेन, लक्ष्मण सेन आदि कतिपय नाम ऐसे परिचित प्राप्त हैं जिन पर साहित्यिक जगत् को गर्व है फिर भी उनकी काव्यात्मक रचनाओं का रसास्वादन कराने का श्रेय तो इन संग्रहों को ही है। इन संग्रहों की रचनाएँ परवर्ती कवियों के लिए संदर्भ प्रस्तुत करती हैं। साथ ही इनमें प्रतिपादित विषय-वस्तु इतनी व्यापक एवं मनोरम होती है कि उनसे आकलन की अपेक्षा स्वाभाविक है। जन साधारण की सुख दुखात्मक अभिव्यक्तियाँ, नारी सौन्दर्य की भावाकुल अभिव्यंजना, धनिक वर्ग का कीर्तिगान[१] तथा दैनिक जीवन की उपयोगी वस्तुओं यथा नदी, पर्वत, वृक्ष, पुष्प का आख्यान इन संग्रह काव्यों में भरपूर उपलब्ध होता है। दार्शनिक मतवादों का उपबृंहण न करते हुए भी भक्ति भावना से जन हृदय को आप्यायित करने की इनमें अपूर्व शक्ति होती है।

संस्कृत साहित्य में सुभाषित संग्रहों की एक विस्तृत सूची उपलब्ध होती है। जैन अमितगति कृत सुभाषितरत्नसंदोह[२] (९,९४), बौद्धकवि कृत कविवचनसमुच्चय[३], विद्याकर कृत सुभाषित रत्नकोष[४] (११-१२ वि० श०), श्रीधर दास कृत सदुक्तिकर्णामृत[५]

---

१. सदुक्तिकर्णामृत—सम्पादक डा० सुरेशचन्द्र बनर्जी—भूमिका; प्रका० फर्मा के० एल० मुखोपाध्याय, कलकत्ता—१९६५।

२. विद्याकर सहस्रकम्—डा० उमेश मिश्र, इलाहाबाद, भूमिका भाग।

३. कविवचनसमुच्चय—डा० एफ० डब्ल्यू० टामस, विब्लियोथेका सिरीज़।

४. सुभाषितरत्नकोष—डा० कोशाम्बी—गोखले—हा० ओ० सि० ४२।

५. सदुक्तिकर्णामृत—संपादक—डा० सुरेशचन्द्र बनर्जी, फर्मा के० एल० मुखोपाध्याय, कलकत्ता।

(१२०५ ई०), जल्हण कृत सूक्तिमुक्तावली६ (१२५६ ई०), शार्ङ्गधर कृत शार्ङ्गधर पद्धति७ (१३६३), वल्लभदेव कृत सुभाषितावली८ (१४६० ई०) एवं श्रीवर कृत सुभाषितावली९ (१४७७) आदि प्रमुख संग्रह संस्कृत साहित्य में उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त परवर्ती साहित्य में भी सुभाषितों की एक विस्तृत परम्परा मिलती है। हरिदास कृत प्रस्तावरत्नाकर (१७ वीं० श०), हरि कवि कृत सुभाषितहारावली (१७ वीं श०), सुन्दरकवि कृत सूक्ति सुन्दर (१७ वीं श०), श्रीकृष्ण कृत कवीन्द्रचन्द्रोदय (१७ वीं श०), हरिहर कृत सुभाषितावली (१८ वीं शताब्दी) व्रजनाथ कृत पद्य तरंगिणी (१८ वीं शताब्दी), पूर्णचन्द्र कवि कृत उद्भट सागर (१९ वीं श०), काशीनाथ कृत सुभाषित भाण्डागारम् (१९ वीं श०) आदि संग्रहकाव्य की महत्वपूर्ण रचनायें हैं। महामहोपाध्याय डा० उमेश मिश्र ने 'विद्याकर सहस्रकम्' की भूमिका में वेनी दत्त कृत पद्यवेनी (१७ वीं श०), हरिभास्कर कृत पद्यामृत तरंगिणी, रूपगोस्वामी कृत पद्यावली (१६ वीं श०), घासीराम कृत रसचन्द्र, भट्टभास्कर कृत रस प्रदीप, शुक्र भूदेव कृत रस विलास, भट्टगोविन्द कृत सारसंग्रहसुधार्णव, भोजकृत सुभाषित प्रबन्ध एवं चतुर्भुज कृत रसकल्पद्रुम (१६८९ ई०) नामक ग्रन्थों की सूचना प्रदान की है१०। यह निश्चित प्राय है कि संग्रह काव्यों के आकलन की दृष्टि से यह सूची परिपूर्ण नहीं। शोध भाण्डारागारों में अब भी अनेक सुभाषित संग्रह काव्य पड़े हुए हैं जिनके प्रकाशन एवं अध्ययन की अपेक्षा है।

प्रसन्न साहित्य रत्नाकर संस्कृत का एक महत्वपूर्ण सुभाषित संग्रह है जो अब तक अप्रकाशित है। इस संग्रह का निर्माता कवि अपने को पाणिनीय व्याकरण एवं साहित्य में निष्णात घोषित करता है। ग्रन्थारम्भ में नन्दन ने स्वतः अपने विषय में प्रशंसात्मक उल्लेख किये हैं। कवि धर्मपरायण ब्राह्मण है जिसने अपने संग्रह का प्रारम्भ शिवप्रज्या से किया है। कवि द्वारा १००० छन्दों के संग्रह का उल्लेख हुआ है। संग्रह से छः उल्लास हैं एवं लगभग २०० कवियों की रचनायें संग्रहीत हैं। उमापति के उल्लेख के आधार पर महामहोपाध्याय डा० उमेश मिश्र ने इसके संग्रहकाल का अनुमान करते हुए लिखा है कि यह ११वीं शती के पूर्व की

---

६ सूक्तिमुक्तावली – जल्हण—गा० ओ० सि० बड़ौदा।

७ शार्ङ्गधर पद्धति—पीटर्सन, बम्बई।

८ सुभाषितावली वल्लभदेव—पीटर्सन, बाम्बे संस्कृत सिरीज़।

९ विद्याकर सहस्रकम्—डा० उमेशमिश्र (भूमिका भाग)

१० विद्याकर सहस्रकम्—संपादक—डा० उमेश मिश्र प्रयाग विश्वविद्यालय, संस्कृत सिरीज़ पृ० २-३ खंड २।

रचना नहीं है। इसका संग्रह नेपाल राज पुस्तकालय में हुआ है[११]। मूल प्रति की एक प्रतिलिपि महामहोपाध्याय डा० उमेश मिश्र के व्यक्तिगत संग्रह में उपलब्ध है जिसका सम्प्रति यहाँ उपयोग किया गया है।

सुभाषित रत्नकोष के संपादक डा० डी० डी० कोशाम्बी एवं डा० वी० वी० गोखले ने भूमिका भाग में पाठालोचन की सामग्री के संदर्भ में प्रसन्न साहित्य रत्नाकर का उल्लेख किया है। हरप्रसाद शास्त्री द्वारा संपादित नेपाल में उपलब्ध हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची में इस रचना का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि इस कृति का संकलन कविवचन समुच्चय की अनुकृति में हुआ है जो बौद्ध परम्परा की रचना है जब कि प्रस्तुत कृति हिन्दू परम्परा की है।[१२]

ग्रन्थकार ने इस कृति में सहस्र श्लोकों की रचना का उल्लेख किया है—'सहस्रं श्लोकानाम् व्यरचयद् इदमनन्दन कविह।' किन्तु इस रचना में १४२८ छन्द उपलब्ध होते हैं और कृति पूर्ण न होकर खंडित है। इस संदर्भ में डा० कोशाम्बी का अभिमत है कि ग्रन्थ की पुष्पिका के अभाव में यह कहना कठिन है कि इन अधिक श्लोकों का संग्रह स्वतः नन्दन कवि ने किया है अथवा उनके किसी उत्तराधिकारी ने[१३]। डा० कोशाम्बी ने प्रसन्न साहित्य रत्नाकर के रचनाकाल पर भी विचार व्यक्त किया है। उनके अनुसार यह सम्भव हो सकता है कि प्रसन्न साहित्य रत्नाकर का कोई पूर्ण संस्करण रहा हो किन्तु प्रस्तुत उपलब्ध प्रति श्रीधर दास कृत सदुक्ति कर्णामृत के अनंतर की प्रतीत होती है; क्योंकि इसमें लोलिम्ब एवं चंडीदास (सम्भवतः काव्य प्रकाश टीका के रचयिता) का उल्लेख है। प्रसन्न साहित्य रत्नाकर में उल्लिखित कपिलेश्वर गजपति, गजपति, त्रिविक्रम गजपति, पुरुषोत्तम गजपति नामों को उन्होंने उड़ीसा के गजपति वंश से सम्बद्ध बतलाया है। इसमें कपिलेश्वर गजपति इस वंशावली के स्थापकों में हैं और पुरुषोत्तम उनके पुत्र हैं, अन्य दो नाम शासकों की वंशावली में उपलब्ध नहीं होते। पुरुषोत्तम गजपति का पुत्र, प्रतापरुद्र गजपति १४९७ ई० में सिंहासनारूढ हुआ था। संग्रहकर्त्ता ने इसके पूर्व पुरुषों की प्रशंसा की है, अतः इस आधार पर इसका रचना काल १५वीं शताब्दी का अन्त स्वीकार किया जा सकता है[१४]। किन्तु प्रतापरुद्र गजपति के विषय

---

११. विद्याकर सहस्रकम्—संपादक डा० उमेश मिश्र, प्रयाग विश्वविद्यालय, संस्कृत सिरीज़, पृ १।

१२. सुभाषित रत्नकोष—हार्वर्ड ओरियण्टल सिरीज़, खंड ४२, भूमिका भाग।

१३. वही, भूमिका भाग।

१४. सुभाषित रत्नकोष—हा० ओ० सि० खंड ४२, भूमिका भाग।

में डा० कोशाम्बी ने लिखा है कि वह विजयनगर तथा बंगाल के मुस्लिम प्रशासकों से पराजित हुआ इसलिए उत्तर पूर्व के सुभाषित संग्रहकों से प्रशंसित होने योग्य नहीं रहा जैसे उसके पिता एवं पितामह जो श्रेष्ठ शासक तथा कवि होने के नाते प्रशंसित हुए थे। डा० कोशाम्बी का यह मत पूर्णतः स्वीकार योग्य नहीं प्रतीत होता। कतिपय कवियों द्वारा प्रतापरुद्र के विरुद का जो बखान हुआ है उससे लगता है कि वह धनप्रभुता सम्पन्न अच्छा प्रशासक था। सम्भव है उसके पराजय का कारण क्रमशः क्षीण होती हुई राज व्यवस्था रही हो डा० पी० एल० वैद्य द्वारा सम्पादित 'रसिक रमण काव्य' में प्रतापरुद्र के समकालीन ग्रन्थकार ने उसकी प्रशंसा की है—राजा गजपति रुद्र प्रतापाख्यो विराजते। यत्र देवी रमानित्यं रमते स्वविभूतिभिः ॥१५

सुभाषित रत्नकोष के संपादक डा० कोशाम्बी एवं डा० गोखले को प्रसन्न साहित्य रत्नाकर की यह प्रति जो महामहोपाध्याय डा० मिश्र के संरक्षण में है, उपलब्ध हो पाई थी। डा० मिश्र की यह प्रति अर्वाचीन है, और नेपाल की मूल प्रति से प्रतिलिपि की गयी प्रतीत होती है। इसका प्रमाण यही है कि नेपाल में संरक्षित प्रति के लुप्त पत्रक प्रस्तुत प्रति में भी नहीं है। २०४ पत्रकों के इस हस्तलिखित ग्रन्थ में ७२, १५५, १७६, १७७ तथा १७९ पत्रक लुप्त हैं। डा० कोशाम्बी ने सुभाषित रत्नकोष के पाठालोचन सम्बन्धी साधनों के प्रसङ्ग में इसी प्रति का परिचय प्रदान किया है और विद्याकर कृत सुभाषित रत्नकोष एवं श्रीधर कृत सदुक्तिकर्णामृत से उसके तुलनात्मक अध्ययन की अपेक्षा व्यक्त की है।

प्रसन्न साहित्य रत्नाकर नामक इस सुभाषित संग्रह का अभी तक प्रकाशन नहीं हुआ है। नेपाल दरबार में सुरक्षित इसकी प्रति का प्राप्त करना दुष्कर सा है। डा० उमेश मिश्र से प्राप्त हस्तलिखित प्रति का यदि सुभाषित रत्नकोष एवं सदुक्ति कर्णामृत से तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो वस्तुतः प्रामाणिक पाठ की उपलब्धि में सहायता मिल सकती है। प्रयागस्थ सर गंगानाथ झा शोध संस्थान के निदेशक महामहोपाध्याय डा० मिश्र से उपलब्ध हस्तलिखित प्रति के आधार पर प्रस्तुत लेखक प्रसन्न साहित्य रत्नाकर के सम्पादन तथा प्रकाशन में गतिशील है। सम्प्रति प्रसन्न साहित्य रत्नाकर की सामग्री का एक पर्यवेक्षण शोध क्षेत्र के महत्व की दृष्टि से यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।१६

ग्रन्थारम्भ में नन्दन ने इस चराचर विश्व के नियन्ता ज्ञानात्मन को नमस्कार किया है। इस नमस्कारात्मक मंगलाचरण के अनन्तर कवि ने धीर जनों द्वारा सूक्ति की अर्थवत्ता ग्रहण की

---

१५ भारतीय विद्या (अंग्रेजी) भाग १७ खंड १ २, बम्बई पृ० १-२।

१६. प्रसन्न साहित्य रत्नाकर की हस्तलिखित प्रति के लिए लेखक डा० मिश्र का उपकृत है।

और संकेत कर एतद्वारा राजाओं के हृदय की प्रसन्नता प्राप्ति को भी उल्लिखित किया है। कवि पाणिनि व्याकरण एवं साहित्य विद्याविद् है अतः सुमति लोगों के सानन्द अवलोकन हेतु समुच्चय प्रस्तुत करता है।

तद्वैयाकरणस्य पाणिनि मतेः साहित्य विद्याविदः।
श्रीनन्दस्य समुच्चयः सुमतयः सानन्दमालोक्यताम्।

अर्थ, अलंकार युक्त, रसरिक्त, कवियों के कीर्त्यर्थ विद्वानों के पठन पाठन के लिए कवि ने यह संग्रह प्रस्तुत किया है। कवि ने श्लाघ्य ढंग से अपनी काव्य प्रतिभा का उल्लेख किया है। उसके अनुसार जो मेरु को मानमनिका से तोल सकता है, समुद्र को पात्र में नाप सकता है, गंगा के बालुका कणों को गिन सकता है, आकाश के तारागणों एवं वृक्ष के पत्तों की गणना कर सकता है—केवल वही नन्दन कवि के गुणों के आख्यान में समर्थ हो सकता है।—
ये मेरुं तुलयन्ति मानमनिका पिन्डैः पयोवारिधेः कुंभै ये कलयन्तियेच्चसिकता संख्याति गंगाभुवः। काशे ये कल्यन्ति ग्रहगणान् पत्राणि पृथ्वीरुहां ते श्री नन्दन पण्डितस्य भणितर्वक्तुं समर्थाः गुणान् ॥१७

इस प्रस्तावना के अनन्तर कवि ने शिवव्रज्या का संग्रह किया है। इसके अतिरिक्त प्रथम उल्लास में संग्रहकर्त्ता ने दुर्गा, कुमार, गणेश, हरि व्रज्या का संग्रह किया है। यहीं पर नाना अवतारों से सम्बन्धित रचनाओं को भी संगृहीत किया गया है। दूसरे उल्लास में लक्ष्मी, सरस्वती, गरुड, शेष, हरिहर एवं आदित्य व्रज्या का संग्रह है। तीसरे उल्लास में चंद्र, गंगा, यमुना, नदी, समुद्र, अन्यायदेश, यश एवं मदन व्रज्या का संकलन है। चतुर्थ उल्लास में वसन्त, ग्रीष्म, प्रावृड, शरद, हेमन्त, शिशिर, वयः सन्धि, युवति, अनुराग, लीलाताण्डव, सामान्य शृङ्गार, दूतीवचन एवं संभोग व्रज्या का आकलन है। पंचम—उल्लास में निधुन विरहिणी, अष्टनायिका, मानिनी, असती एवं विरहि व्रज्या की चर्चा की गयी है। छठे उल्लास में दीन, मीन, पनस, दाडिम, ताल, तिन्तिणी, लेम्बु, तुलसी, आम्र, बट, कदम्बतरु, पक्षी, अर्थान्तर न्यास व्रज्या का समाकलन हुआ है। अर्थान्तर न्यास व्रज्या के पश्चात् से ही काव्य की उपलब्ध यह हस्तलिखित प्रति खंडित है।

सुभाषित रत्न कोष एवं सदुक्ति कर्णामृत में श्री नन्दन कवि की रचना का संग्रह हुआ है। डा० कोशाम्बी ने सुभाषित रत्नकोष में उसके प्रामाणिक पाठ की संदिग्धावस्था की चर्चा करते

---

१७. प्रसन्न साहित्य रत्नाकर (हस्तलिखित प्रति) पत्रक १-२।

हुए १०२५ सत्यक श्लोक का रचयिता श्री नन्दन कवि को माना है। इस रचना में भाव भगिमा का आश्रय ग्रहण करते हुए समुद्र का वर्णन किया गया है जिसमें उल्लिखित है कि यद्यपि यह समुद्र जल एव रत्न राशि का निवास स्थान होने के कारण रत्नाकर कहलाता है, तृष्णा बुझाने वाला व्यापक जलवाला है, किन्तु कौन जानता है कि पहले अगस्त्य मुनि ने अपने अजुलि में भरकर क्षण भर में इसका पान कर लिया था।

अय वारामेको निलय इति रत्नाकर इति श्रितोऽस्माभिस्तृष्णा तरलित मनोभिर्जलनिधि ।
क एव जानीते निजकर पुटी कोटर गते क्षणादेन ताम्यत्तिमियकरमाप्पास्यति मुनि ॥१८

प्रसन्न साहित्य रत्नाकर में भी नन्दन कवि की स्वल्प रचनायें ही सगृहीत हैं जब कि वे स्वत इस ग्रन्थ के संग्रहकर्ता हैं। प्रस्तावना सहित कुल सात ही छन्द नन्दन के यहां भी उपलब्ध हैं। उपर्युक्त छन्द के सदृश ही प्रसन्न साहित्य रत्नाकर के एक श्लोक में कवि नन्दन ने चन्द्रमा का मनोरम वर्णन किया है। उसके कथानुसार कलकी व्यक्ति दूसरे को भी समानधर्मा बनाना चाहता है। निशाकर अमलिन नलिनी दल को भ्रमर वास से कलकित करता है। चन्द्रमा सकलक है तारागण निष्कलक हैं फिर इनका पति चन्द्रमा भगवान् हर के चूडे में निवास करता है—

अपरात्मसम क्रियतामिति व्यवसिना भवन्ति कलकिन ।
अमलिनेनलिने प्यालि मडल निशिनिवेशयतिस्मनिशाकर ॥
कलकयस्तु निशानाथो निष्कलकाश्च तारका ।
तथाप्येष पति स्तेषां चूडा रत्न हरस्य च ॥१९

प्रसन्न साहित्य रत्नाकर के सग्राहक कवि नन्दन पडित द्वारा सगृहीत रचनाओं के स्वतन्त्र एव समग्र अनुशीलन को अपेक्षा है। उनके सग्रह में समाविष्ट विषयवस्तु की विविधता का विश्लेषण सांस्कृतिक दृष्टि से उपयोगी सिद्ध हो सकता है। नाना विषयों से सम्बद्ध कवि द्वारा अपनीत इन उदाहरण काव्यों के सामाजिक अनुशीलन की अपेक्षा है। सुभाषितों की शृखला में उसकी भावभूमि का सम्यक अनुशीलन भी इन उदाहरण काव्यों के माध्यम से प्रस्तुत किया जा सकता है।

---

१८. सुभाषित रत्नकोष—हा० ओ० सि० छन्द स० १०२५।

१९. प्रसन्न साहित्य रत्नाकर (हस्तलिखित)।

'बानी में मानी' के कवि 'निराला'

पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु'

यदि यह कहा जाए कि सम्पूर्ण आधुनिक हिन्दी काव्य में अर्थवत्ता की तुला पर 'निराला' अकेले सबसे भारी पड़ते हैं तो कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए; क्योंकि 'निराला'-काव्य की सबसे बड़ी शक्ति ही है अर्थवत्ता। यह विशेषता उनके समकालीन अन्य सभी कवियों से उन्हें अन्यतम तथा महत्तम सिद्ध करने का विभेदक तत्त्व भी है। निराला 'बानी में मानी'[१] का कवि है।

ग्रियर्सन ने अर्थ की दिशा में कविता में जिस 'ओवरटोन' की बात कही है, एबरक्राम्बी ने जिस अतिरिक्त अर्थ का भाषिक विद्युत् संचार अपेक्षित माना है, कीट्स[२] ने जिस 'फाइन एक्सेस को स्वीकार किया है' और विमसेट तथा ब्रुक्स ने जो महान् कविताओं में अर्थ की सम्पूर्णता के समृद्ध होने और उसके कई स्तरों पर उद्घाटनीय होने की चर्चा की है उन सबके दर्शन 'निराला' की कविताओं में प्रायः होते हैं। कविता की इस अर्थवत्ता से परिचित होने के लिए पाठक को भी प्रबुद्ध होने की आवश्यकता पड़ती है; क्योंकि कविता करने के लिए जिस प्रकार सहज प्रतिभा की आवश्यकता है उसी प्रकार काव्य की अर्थ-भूमि पर पहुँचने के लिए पाठक अथवा आलोचक में भी ग्रहणशीला कल्पना की। वैसे सामान्य पाठक भी जब किसी कविता की आवृत्ति करता है तब उसे अर्थ की कुछ-न-कुछ कौंध अवश्य उजागर होने लगती है। यह अर्थवत्ता कवि की बहुत बड़ी साधना माँगती है। जिस कवि की शब्द-साधना जितनी विशाल और उच्चावच होगी उसकी अर्थवत्ता भी उतनी ही समृद्ध होगी। वस्तुतः कविता में अर्थवत्ता शब्द की सिद्धि हो जाने के बाद ही आती है। 'निराला' जी को शब्द सिद्ध थे। फलतः अर्थ की विराटता भी उनकी सिद्धि बन गयी। उनका काव्य प्रमुखतः अभिधाशक्ति का काव्य है, लेकिन अभिधा के मुखमण्डल के चारों ओर व्यंजना का अप्रतिम प्रकाश विकीर्ण हो रहा है। उनकी कविताओं में अर्थ के बहुत सारे संकेत हैं, बहुत सारी भंगिमाएँ हैं, बहुत सारे स्तर हैं, बहुत सारी दिशाएँ हैं। यही नहीं, अर्थ की सूक्ष्मता और उच्चावचता भी उनकी कविताओं में भरी पड़ी है। एक बहुत बड़ी बात यह है कि उन्होंने अर्थ

---

१. 'लोग खोजते रहे बानी में मानी
तुमने चुप ठानी!'—प्रभाकर माचवे : 'निराला' (कल्पना, नवम्बर १९६१)।

२. कीट्सः अण्डरस्टेण्डिंग पोएट्री पृ० ९५।

गौरव के लिए प्रतीक से अधिक व्यजना का सहारा लिया है। जिन लोगों की पहुँच उनकी अर्थवत्ता के अन्वय लोक तक नहीं हुआ करती, जो उनकी साधना का रहस्य और क्षमता नहीं पहचानते, वे उनकी कविताओं के अर्थों को कल्पना का चमत्कार, अनुमाद की खींच-तान और क्लिष्टता की क्रीड़ा कहा करते हैं। लेकिन वे भूल जाते हैं कि साधारण शब्दों में नये अर्थों का गृह-प्रवेश कल्पना की सहायता से ही हुआ करता है। फिर 'निराला' तो स्वय शब्द और अर्थ के प्रति बड़े सचेत थे। आचार्य शिवपूजन सहाय जी ने[३] उन पर सस्मरण लिखते हुए बताया है कि रुग्णता की स्थिति में आसन्न मृत्यु की प्रतिच्छाया देखते हुए भी वे उन्हें अर्थ गौरव के प्रति किस आन्तरिक हुलास से कालिदास के श्लोकों के अर्थों की बारीकियाँ सुझाने लगे थे। अत शब्द और अर्थ के ऐसे विस्तृत और सूक्ष्मतया सज्जित मनोलोक में निवास करनेवाले महाकवि की कविताओं की महती विशेषता और मूल्यगत उपलब्धि के रूप में अर्थवत्ता को स्वीकार करना निस्सन्देह उपयुक्त है।

'निराला' जी की कविताओं में अर्थवत्ता की तीन दिशाएँ हैं। पहली दिशा अर्थ की विविधता की है, दूसरी दिशा अर्थ की सूक्ष्मता की है तथा तीसरी दिशा अर्थ की उच्चावचता की है। अर्थ की विविधता के भी कई स्तर हैं। कहीं यह विविधता शब्दगत है तो कहीं पंक्तिगत, कहीं चरणगत है तो कहीं समष्टिगत। उनकी कविताओं में अर्थ विविधता के भिन्न-भिन्न आयामों के उदाहरण भरे पड़े हैं। अब तक इस दृष्टि से उनकी कविताओं पर विचार नहीं किया गया है। बड़ी बात यह है कि 'निराला' की अर्थ-विविधता का चमत्कार मध्यकालीन कवियों की तरह केवल श्लेषगत नहीं है, बल्कि वहाँ अर्थ के एक से अधिक हो जाने में ऐसी विच्छित्ति है, जिसको महसूस करते ही पाठक आह्लादित हो उठाता है सचमुच कवि को जागतिक अर्थ से जितना अपरिचय रहा है, भाषागत अर्थ से उतनी ही घनता से भरा हुआ परिचय उसे प्राप्त है। ऐसा लगता है कि 'निराला' शब्द को सस्कृति और अर्थ की प्रकृति के सच्चे मर्मज्ञ थे। उनके द्वारा एकाधिक अर्थों में प्रयुक्त शब्द कहीं आनुपातिक भेद को ध्वनित करता है, कहीं विभिन्न सवेदनाओं के आधार पर विविध अर्थ देता हुआ विभिन्न बिम्ब खड़ा कर देता है और कहीं वाक्य-योजना के चमत्कार से कथित शब्द के बिना भी गृह-विहीन मनीषी की तरह अर्थ-रूपी परमार्थ की प्राप्ति करा देता है।

'निराला' की शब्दगत अर्थवत्ता की विविध झाँकियाँ उनकी 'भिक्षुक'[४] 'वह तोड़ती

---

३ वह बगल में रखी 'अभिज्ञान शकुन्तल' की पोथी लेकर चुने हुए श्लोक सुनाने और अर्थ की बारीकी समझने लगे।—आचार्य शिवपूजन सहाय वेदिन वे लोग, पृ० ७६।

४ परिमल (पञ्चावृत्ति १९५४ ई०) पृष्ठ १३३-१३४।

पत्थर'५ 'सखि वसन्त आया'६ वर दे वीणावादिनी वर दे'७ बाँधो न नाव इस ठाँव, बन्धु८' भारति, जय विजय करे९ आदि कविताओं में देखने को मिलती हैं।

भिक्षुक की निम्नलिखित—

मुट्ठी भर दाने को
भूख मिटाने को
मुँह-फटी पुरानी झोली को फैलाता,

पंक्तियों में दाना शब्द के कई अर्थ जाहिर होते हैं। 'दाना' का पहला अर्थ अन्न का कच्चा कण है, जिससे पता चलता है कि वह अन्न के ऐसे दाने चाह रहा है, जिनको बाद में राँध कर क्षुधा की तृप्ति करेगा। 'दाना' का दूसरा अर्थ अन्नों की मिली-जुली रुक्ष और निम्नकोटि से है, जिसका उपयोग प्रायः पशुओं के लिए होता है। भिक्षा में तो आम तौर पर ऐसे ही दाने दिये जाते हैं। 'दाना' का तीसरा अर्थ स्वतः अर्थ अथवा धन है। इस समष्टि-अर्थ में दाने की सिर्फ एक मुट्ठी उसे चाहिए। अर्थात् वह धन का संचय नहीं चाहता है, उससे भूख भर मिटाना चाहता है। इस अर्थ में सामाजिक अर्थ-व्यवस्था पर तीव्रतम व्यंग्य है। निराला ने इस दाना की दुहाई अणिमा में भी दी है—

चूँकि यहाँ दाना है
इसीलिए दीन है दीवाना है१०।

'वह तोड़ती पत्थर' में मजदूरिन की स्थिति स्पष्ट करते हुए निराला ने लिखा है—

नहीं छायादार पेड़ वह
जिसके तले बैठी हुई स्वीकार।

यहाँ छायादार पेड़ में भी अर्थ के कई स्तर हैं। प्रथमतः छायादार पेड़ का अर्थ उस पेड़ के ठूँठ या छायाहीन होने से है, जिसके नीचे बैठी वह पत्थर तोड़ रही है। यह 'छायादार पेड़' का प्रकृति-परक अर्थ है। द्वितीयतः छायादार पेड़ का व्यष्टि परक अर्थ उसके पुरुष या पति की छाँह से है, जिसने अपनी छाया इस नारी पर से हटा ली है। फिर भी मजदूरिन

---

५. अनामिका (चतुर्थ संस्करण जुलाई १९६३), पृष्ठ—८१-८२।
६. गीतिका (पंचम संस्करण वि० २०१८), पृष्ठ—५
७. गीतिका (पंचम संस्करण वि० २०१८), पृष्ठ—३।
८. अर्चना (प्रथम संस्करण अगस्त १९५०), पृष्ठ—३७।
९. गीतिका (पंचम संस्करण वि० २०१८), पृष्ठ ७३।
१०. अणिमा (प्रथम संस्करण अगस्त १९४२), पृष्ठ १०३।

ने समाजत प्राप्त पति के आश्रय का परित्याग नहीं किया है। वह मजदूरी करके जीविकोपार्जन तो स्वयं कर लेती है, लेकिन इसी दम्भ पर अपने विमुख पुरुष से अलग नहीं हो जाती। तृतीयत छायादार पेड़ से समष्टिगत अर्थ भी ध्वनित होता है। मजदूरिन जिस समाज में रह रही है उसकी छाया भी उसे प्राप्त नहीं है। उसे घोर संघर्ष करके ही समाज में जीना पड़ रहा है। 'स्वीकार' शब्द में प्रकृति पुरुष और समाज—तीनों से उपेक्षित होकर भी तीनों के तले रहने का भाव है। वस्तुत छायादार पेड़ का यह एक प्रयोग 'कह गिरिधर कवि राय छाँह मोटे की गहिए' के स्थूल प्रयोग को अर्थ की यात्रा में कई कदम पीछे छोड़ देता है। निराला में 'पेड़' का पहला अर्थ वस्तुपरक दृष्टिगत और प्राकृतिक है दूसरा कालिदास के शब्द प्रयोग के आधार पर सांस्कृतिक है तथा तीसरा अनुभूतयुक्त और यथार्थ सामाजिक है।

'सखि, वसन्त आया' निराला का प्रसिद्ध ऋतु-गीत है—

"किसलय-वसना नव वय-लतिका
मिली मुदित उर प्रियतरु पतिका
मधुपवृन्द बन्दी, पिक-स्वर नभ सरसाया।"

यहाँ 'किसलय' का प्रयोग कई अर्थों को भास्वर और उजागर करता है। प्रथमत लता कोंपल का वस्त्र पहने है यह अर्थ प्रकट होता है। द्वितीयत स्पष्ट होता है कि लतिका नये वस्त्र पहने है। तृतीयत जानकारी होती है कि लतिका का वह परिधान चूनर की तरह लाल है। चतुर्थत प्रतीति होती है कि लतिका का चीर रेशमी वस्त्र की तरह चिकना और मुलायम है। एक 'किशलय' शब्द के प्रयोग से उसकी अवस्था, उसके वर्ण, उसके संस्पर्श और उसके चाक्षुप प्रत्यक्ष के आधार पर चार-चार अर्थों की निस्सृति में अर्थ-विविधता की ही शक्त और समर्थ अर्थवत्ता है।

'गीतिका' के 'वर दे वीणावादिनि, वर दे' की निम्नलिखित पंक्तियों—

"काट अन्ध उर के बन्धन स्तर
बहा जननि, ज्योतिर्मय निर्झर
कलुष भेद तम हर प्रकाश भर
जगमग जग कर दे।"

में भी 'बन्धन स्तर' के कई अर्थ मुखर होते हैं। 'बन्धन-स्तर' का एक अर्थ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र का जातिगत बन्धन है, दूसरा अर्थ अभिजात्य और सर्वहारा का वर्गगत बन्धन है, जिसके अन्तर्गत पद-मद, शक्ति-सम्पन्नता तथा अहम्मन्यता की अनेकानेक पर्तें हैं, तीसरा अर्थ धर्मगत बन्धन है, चौथा अर्थ विचार अथवा दल का बन्धन है, पाँचवा अर्थ छल-प्रपंच

का बन्धन है, छठा अर्थ माया-मोह-अज्ञान का बन्धन है, सातवाँ अर्थ भू-भाग का बन्धन है, आठवाँ अर्थ काल का बन्धन है तथा नौवाँ अर्थ सभ्यता का बन्धन है। इस प्रकार 'बन्धन-स्तर' के बहुविध अर्थ स्पष्ट हैं।

'बाँधो न नाव इस ठाँव बन्धु' का 'बन्धु' शब्द ही त्रिविधार्थ-संकेतक है। यह सम्बोधन केवट के प्रति है, नौका-विहार पर निकले कवि-मित्रों के प्रति है और कवि की आत्मा अर्थात् उसके 'स्व' के प्रति है। यदि नाव पर कवि और केवट दोनों हैं तो वह सम्बोधन केवट के प्रति है, यदि नौका पर कवि अपने मित्र-समुदाय के साथ है तो वह सम्बोधन मित्रों के प्रति है और यदि कवि नैया पर अकेला है तो यह सम्बोधन उसके 'स्व' के प्रति है। इसी गीत की बाद की पंक्तियाँ हैं—

> "यह घाट वही जिस पर हँसकर,
> वह कभी नहाती थी धँसकर,
> आँखें रह जाती थीं फँसकर,
> कँपते थे दोनों पाँव बन्धु!"

यहाँ 'हँसकर', 'फँसकर' और 'धँसकर' इन तीन सान्दर्य-संकेतक क्रियाओं से अकथित सीमा पर विचरने वाले अर्थों का भी उन्मेष किया गया है। 'हँसकर' से मुखमंडल और अधरोष्ठ का सौन्दर्य, 'धँसकर' से प्रशस्त नितम्ब और उरु सौन्दर्य तथा 'फँसकर' से पीन, उन्नत उरोज का सौन्दर्य संकेतित है। इस प्रकार इन शब्दों से एक ओर क्रिया परक अर्थ तथा दूसरी ओर नायिका के अवयव-विशेष का कर्त्ता-परक अर्थ, दोनों ही स्पष्ट होते हैं। तीसरे अर्थ का विस्तार नायिका की प्रकृति को भी मूर्त कर देता है। 'हँसकर' से सुमुख-हँसमुख प्रकृति, धँसकर' से जल-क्रीड़ा प्रिय प्रकृति तथा 'फँसकर' से उसकी निस्संकोच उन्मुक्त प्रकृति का अर्थ-ध्वनन होता है।

'गीतिका' के प्रसिद्ध राष्ट्रगीत 'भारती, जय विजय करे' के 'कनक शस्य कमल धरे' में भी 'कनक' 'शस्य' और 'कमल' के प्रयोग से अर्थ विविधता को गरिमा-महिमा प्राप्त हुई है। 'कनक' शस्य के विशेषण-रूप में 'सुनहला' अर्थ देता है। भारतमाता एक हाथ में सुनहली बाली और दूसरे हाथ में कमल-पुष्प धारण किये है। 'कनक' 'शस्य' और 'कमल' का दूसरा अर्थ क्रमशः खनिज, कृषि और निसर्ग-सुषमा है। 'कनक' खनिज के लिए, 'शस्य' कृषि के लिए और 'कमल' निसर्ग-सुषमा के लिए प्रयुक्त है। तीसरे अर्थ में 'कनक' रूप का, 'शस्य' रस का और 'कमल' गन्ध का अर्थ देता है। निराला रूप, रस और गन्ध के कवि भी माने गये हैं। चौथे-अर्थ में 'कनक' से उज्ज्वलता के कारण सत्त्व, 'शस्य' से

अन्नमय होने के कारण तम और 'कमल' से लाल होने के कारण रज का अवबोध स्पष्ट है। पाँचवें रूप में 'कनक' की प्रकाशमयता के कारण 'सत्य' 'शस्य' की जीवन-क्षमता के कारण 'शिव' तथा 'कमल' की 'चक्षुतृप्तता' के कारण 'सुन्दरम्' के भी अर्थ-द्वार खुलते हैं।

'स्नेह-निर्झर बह गया है'११ की 'अब नहीं आती पुलिन पर प्रियतमा' पंक्ति में 'पुलिन' के स्पष्ट दो अर्थ हैं नदी का कगार और जिन्दगी का अन्तिम छोर।

'निराला' की कविताओं में पंक्तिगत अर्थवत्ता भी गहरी है। पंक्तिगत अर्थवत्ता शब्द-मात्र पर आधारित न होकर वाक्य में परस्पर शब्दों की संघटना पर निर्भर है।१२ 'बाँधो न नाव इस ठाँव, बन्धु' तथा 'भिक्षुक' में इसके उदाहरण देखे जा सकते हैं।

'बाँधो न नाव इस ठाँव, बन्धु' की दूसरी पंक्ति 'पूछेगा सारा गाँव बन्धु' में अर्थ की चार भंगिमाएँ हैं। पहली अर्थ-भंगी कहती है कि सारा गाँव कवि से यहाँ पड़ाव डालने का कारण पूछने आएगा। अर्थ का दूसरा संकेत है कि ग्राम-वासी परस्पर इस प्रसंग की चर्चा करेंगे, एक-दूसरे से इसका रहस्य पूछेंगे। प्रथम अर्थ-बोध में व्यंग्य करने या ताना मारने की व्यंजना है, पर द्वितीय में बचाव का भाव है। तीसरा अर्थ है कि सारे गाँव के प्रश्न करने से स्मृति की वह सुरक्षित छवि बारम्बार कवि के नयन-सर में तैरने लगेगी। इस अर्थ में गाँव वालों के पूछने पर निगाहों में उभर आने वाली तसवीर पर दबाव है, जो अकथित होकर कथित है। चौथा अर्थ लोकानुभूतिजन्य सामाजिक भीति से संबद्ध है, जिसके मूल में कवि को अपने और अपनी प्रेम-पात्रा के प्रकाशोज्ज्वल चरित्र का अन्यतम ध्यान है।

'भिक्षुक' में एक पंक्ति है 'पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक' इससे चार अर्थ ध्वनित होते हैं। पहला अर्थ 'पेट पीठ एक होना' मुहावरा पर आधारित है। इससे भिक्षुक की सर्वातिशायी कृशता, दुर्बलता और कायाहीनता का बोध कराया गया है। दूसरा अर्थ मुख्यत सन्दर्भगत है जो उसकी बुभुक्षा प्रकट करता है। भूख के कारण ही उसका पेट पीठ से सट गया है। अत ऐसी शारीरिक गति से उसकी तीव्रतम भूख जाहिर है। कवि ने पेट पीठ के एक होने की उक्ति द्वारा दूसरी ओर फूले पेट वालों की तसवीर की ओर भी इंगित कर दिया है। तीसरा अर्थ भारत में तप और साधना से शरीर को सुखाने वाले यतिवादी ऋषियों की परम्परा की याद दिलाता है। तप के कारण उनकी कृशकाया में पेट पीठ से एकरूप होकर अपना अस्तित्व खो देता था। वे ऋषि निवृत्ति मार्गी थे, भिक्षुक प्रवृत्ति मार्गी हैं। उनके

---

११ अणिमा (प्रथम संस्करण, १९४२)

१२, द्रष्टव्य—जान डेव—हाउ वी थिंक, पृ० २३६।

पेट-पीठ एक होने में गरिमा थी, पर इसकी तद्रूपता में अनौचित्य और अभिशाप है। इस मानी में बेचारा भिक्षुक कभी पेट-पीठ की एकरूपता का सार्थक पात्र नहीं हो सकता। आज जब युग का प्रवृत्ति-निवृत्तिपरक भेद ही लुप्त हो गया है तब लगता है कि चर्चित भारतीय संस्कृति के लोप में भिक्षुक ही मूल रूप को आत्मसात् किये चल रहा है। यहाँ 'निराला' का व्यंग्य बड़ा तीक्ष्ण है। चौथा अर्थ प्रसिद्ध पंक्ति 'रहिमन कहत सुपेट सों क्यों न भयो तू पीठि' तक की यात्रा तय करता है। रहीम अकबर के दरबारी कवि थे। उनकी दृष्टि राजदरबार तक ही सीमित थी। अनः किसी दीन-हीन-मलिन के अनस्तित्व पेट को नहीं देख सकने के कारण ही वे 'सुपेट' का उक्त शब्दों में उपहास कर रह गये। वे अपनी पंक्ति में सतही हैं। उनका अभिप्रेत काल्पनिक और चामत्कारिक है। रहीम जिस पेट से 'तू पीठ क्यों नहीं हुआ सवाल करते हैं 'निराला' उसे प्रत्यक्ष पीठ बना कर देखते हैं। प्रस्तुत प्रजल्प का व्यंग्य इस ओर भी है।

शब्दगत और पंक्तिगत अर्थ-विविधता के साथ-साथ निराला जी की कविताओं में चरण-गत अर्थ-विविधता भी है। इस दृष्टि से 'स्नेह-निर्झर बह गया है' की निम्न पंक्तियाँ विचारणीय हैं—

> "आम की यह डाल जो सूखी दिखी
> कह रही है अब यहाँ पिक या शिखी
> नहीं आते, पंक्ति मैं वह हूँ लिखी
> नहीं जिसका अर्थ, जीवन दह गया है।"

पूरे चरण से दो प्रकार के अर्थ निकलते हैं। पहला अर्थ है कि आम की सूखी दिखी डाल कह रही है कि अब मेरी शाखा पर न कोयल आती है, न मोरनी। मैं वह पंक्ति हूँ जो निरर्थक होती हुई भी लिख दी गयी है। मेरी जिन्दगी जलकर मिट चुकी है अथवा बहकर खतम हो चुकी है, निःशेष हो चुकी है। इस प्रकार आम की डाल की जो व्यथा-कथा है वही कवि-जीवन की भी है। दूसरा अर्थ है कि शिथिल-सूखी भुजा कह रही है कि अब मृदुभाषिणी या सुन्दरी नायिका यहाँ नहीं आया करती। निरर्थक पंक्ति की तरह, उकठे काठ जैसी मैं पुंसत्वहीन भुजा हूँ। जीवन की शक्ति निःशेष हो चुकी है। पावस का रंगारंग और उसकी रसधार गुजर गयी है, वसन्त की वासन्तिकता भी लुट चुकी है और जीवन-ग्रीष्म के प्रचंड उत्ताप से जल गया है। इस प्रकार पूरा चरण ही द्वयार्थक है।

समष्टिगत अर्थ विविधता१३ प्रकर्ष की सिद्धि है। यह अर्थवत्ता को अपनी सम्पूर्णता में पुष्ट करती है। 'गीतिका' का 'रूखी री यह डाल, वसन वासन्ती लेगी१४ गीत समष्टिगत अर्थ-विविधता का अन्यतम उदाहरण है—

"रूखी री यह डाल, वसन वासन्ती लेगी।
देख खड़ी करती तप अपलक,
हीरक-सी समीर-माला जप,
शैल सुता अपर्ण अशना,
पल्लव-वसना बनेगी—
वसन वासन्ती लेगी।
हार गले पहना फूलों का,
ऋतुपति सकल सुकृत-कूलों का
स्नेह, सरस भर-देगा उर-सर
स्मरहर को वरेगी।
वसन वासन्ती लेगी।
मधु व्रत में रतवधू मधुरफल
देगी जग को स्वाद-तोष-दल,
गरलामृत शिव आशुतोष बल
विश्व सकल नेगी,
वसन वासन्ती लेगी।'

इस गीत का पहला अर्थ प्राकृतिक है, दूसरा अर्थ पौराणिक, तीसरा अर्थ राष्ट्रीय है और चौथा अथ सामाजिक यह निराला के आलम्बन चयन की विशेषता है, जिससे अनायास अनेकानेक अर्थों की व्यंजना होने लगती है।१५

प्राकृतिक अर्थ में पतझड़ में पेड़ की सूखी डाल देखकर कवि कामना और विश्वास करता है कि शिशिरशीर्ण होकर मिट जाएगा और वसत जाएगा। पेड़ की रूखी डाल पर किसलयों का वासन्ती वसन लहरा उठेगा। अपने सूखेपन में यह डाल अपलक तपस्या करती दीख पड़ती है। यह समीर सूत्र में गुँथी हुई हीरे जैसी ओस की बूँदों की माला जप रही है। पथरीली भूमि में

१३ जी० एस० फ्रेजर विज़न एण्ड रेटारिक इन वर्स, पृ० २४।
१४ गीतिका (पचम सस्करण, वि० २०१८), पृष्ठ—१६।
१५, नन्ददुलारे वाजपेयी , कवि निराला (प्रथम सस्करण, १९६५), पृष्ठ—१३२

उत्पन्न होने के कारण यह शैल-सुता है और पत्र-विहीन होने के कारण अपर्ण-अशना। यह शाखा निकट भविष्य में पल्लवों से लद जाएगी—'पाट-पाट शोभा-श्री पट नहीं रही है।' वसन्त आएगा और प्रशाखिका के गले में फूलों का हार डाल जाएगा। वह इस डाल के हृदय-सर को क्या भरेगा, पुण्य के कूलों में अवस्थित सारा सरस स्नेह ही न्योछावर कर देगा। तब स्मरण दिल चुरा लानेवाले वसन्त को डाली कर लेगी। फिर शाखा-रूपी वधू मधुमास के व्रत में लीन हो जाएगी तथा स्वाद और सन्तोष के दलवाले मधुर फल संसार को देगी। इस प्रकार शीघ्र प्रसन्न होनेवाले शिव के बल से पतझड़ का सरल वसन्तामृत बन जाएगा। प्रशाखा की ही तरह सारा संसार शिव की कृपा का प्रार्थी है। ध्यातव्य है कि वसन्त काम की ऋतु है। पतझड़ के बाद उसकी प्राप्ति के लिए शंकर की कृपा आवश्यक है।

पौराणिक अर्थ में 'रूखीडाल' तन्वंगी, तपस्विनी पार्वती है। उनके वासन्ती वसन लेने से शिव के संग उनके परिणय का अर्थ ध्वनन होता है। कामना और विश्वास है कि अपलक अनवरत, तपस्या करनेवाले, समीर-सूत्र में गुम्फित तुषार-विन्दु रूपी हीरे की माला जपनेवाली पत्तों से प्राप्त भोजन भी त्याग देनेवाली हिमालय की पुत्री पार्वती इस दुस्सह वियोग के बाद अवश्य मिलन-सुख प्राप्त करेंगी। ऋतुपतिरूपी महादेव पुण्यसेचित सरस स्नेह से उनके हृदय सर को रसमय बना देंगे। उनके गले में पुष्पहार सुशोभित हो उठेगा और वे स्मर को जीत चुकनेवाले शंकर का वरण करगी। यौवन के व्रत में लीन पार्वती प्रसन्न भाव से संसार को स्वाद और सन्तोष के दलवाले मीठे फल प्रदान करेंगी। शीघ्र मुदित होनेवाले तथा गरल को अमृत बना लेनेवाले शंकर के बल का सारा जगत् कृपाकांक्षी है। पार्वती का उनसे अवश्य मिलन होगा।

राष्ट्रीय अर्थ में 'रूखीडाल' भारत माता है, जिसकी कान्ति वन्दिनी होने के कारण फीकी और मलिन हो गयी है। यह भारत-माता एक दिन अवश्य वासन्ती परिधान पहनेगी। स्वातन्त्र्य प्रभु से इसका अवश्य मिलन होगा। यह अपलक निरन्तर तपस्या कर रही है। सविनय अवज्ञा आन्दोलन, सत्याग्रह आदि परतंत्र आवृत में निरन्तर चलते रहनेवाले शान्तिपूर्ण आन्दोलन ही इसके तप हैं। यह आँसुओं के हीरक दाने की कसी तथा परिस्थितियों के शैत्य समीर में गुँथी माला का जाप करती रही है। भौगोलिक दृष्टि से भारत का प्रारम्भ हिमालय से ही होता है। अतः भारत माता हिमवान् की तनुजा है। यह अपर्ण-अशना है। इस कथन में देश को स्वतंत्र करने के लिए समय-समय पर किये जानेवाले आमरण अनशन की ध्वनि है। ऐसी साधनामयी भारती एक दिन अवश्य मुक्त होगी। स्वातंत्र्य-ऋतुपति सुकृत्य-पुलिनों में सेचित स्नेह से इसका हृदय-सर आपूरित कर देगा। और स्वातंत्र्य-प्रभु से

मिलन होते ही इसके गले में फूलों की मालाएँ गुल खिल उठेंगी। भारतमाता स्मरहर-स्वातंत्र्य का वरण करेगी, जिसके आने के बाद कहीं काम, वासना या विलासिता का युग नहीं रह जाएगा। स्वातन्त्र्य प्राप्ति की खुशी में लीन भारती वधू की तरह जग-जग को स्वाद और सन्तोष के दलों से भरा हुआ मधुर फल प्रदान करेगी। परतन्त्रता का गरल मिटेगा और स्वतन्त्रता का अमृत छा जाएगा। यह स्वातन्त्र्य शिव-मंगलमय होगा। सारा संसार ही स्वतन्त्रता रूपी आशुतोष के बल का नेग चाहता है।

सामाजिक अर्थ में विवाह के पहले तरुणी लगन लगने के कारण रूखी डाल की तरह सूख गयी है। विभिन्न विधि विधानों में पड़ी वह अपलक तपस्या कर रही है। वह माता-पिता भाई-बहन सबका साथ छूटने के भय से भरी है। फलतः आँसू रूपी हीरे की कनी और साँसों के धागे में कसी माला का जाप कर रही है। नारी होने के कारण वह शैल-सुता है, पत्थर फोड़ कर जन्मी हुई है। उपवास करने के कारण वह अपर्ण-अशना है। शीघ्र ही वह वैवाहिक लाल चूनर से लक-दक हो जाएगी। ऋतुपति की तरह ही उसका पति उसके डाल में फूलों की माला डालेगा और स्नेह से उसके हृदय रूपी सर को रसमय कर देगा। स्मर ही जिसको हर चुका है, ऐसे पति का अर्थात् काम क्रीड़ा में निपुण पति को वह नायिका वरेगी। वधू होने के बाद वह यौवन के मन में लीन स्वाद और सन्तोष के दलों से पूर्ण फल संसार को प्रदान करेगी। ऐसे मिलन के लिए गरल को अमृत बना लेनेवाले तथा शीघ्र प्रसन्न होनेवाले शंकर के बल का सारा संसार नेग माँगता है। स्मरणीय है कि नारियाँ सुन्दर वर-घर की प्राप्ति को दृष्टि में रखते हुए कौमार्य भर बड़ी लगन से शंकर की पूजा किया करती हैं।

पूरे गीत में साधना के बल पर रिक्तता से पूर्णता की यात्रा है। प्रारम्भिक प्राप्त्याशा के स्वर अन्ततः नियताप्ति में बदल जाते हैं। इस प्रकार यह गीत एकाधिक अर्थच्छवियों का खूबसूरत अलबम है।

'निराला' की कविताओं में अर्थ-विविधता के अतिरिक्त अर्थ की सूक्ष्मता का भी एक महत्त्व-पूर्ण स्तर है। उनकी 'जुही की कली'[१६] 'भिक्षुक' 'सखि, वसन्त आया' आदि कविताओं में अर्थ की सूक्ष्मता से पुष्ट अर्थवत्ता है।

'जुही की कली' की प्रारम्भिक पंक्तियाँ हैं—

> "विजन-वन-वल्लरी पर
> सोती थी सुहाग-भरी-स्नेह-स्वप्न मग्न
> अमल-कोमल तनु तरुणी-जुही की कली"

---

१६. परिमल (पंचमावृत्ति, १९५४), पृष्ठ—१९२-१९३।

कविता का पहला शब्द 'विजन' अर्थ की सूक्ष्मता का द्योतक है। 'विजन' का प्रयोग कर कवि ने किसी सूने जंगल की लता पर, पत्र पर्यंक पर सोती हुई जुही की कली को चित्रित भर नहीं किया है। 'विजन' की अर्थ सूक्ष्मता बड़ी सुचिन्तित है। 'विजन' की अर्थ-सूक्ष्मता में शील-संस्कृति की रक्षा है, स्वाभाविकता है, मनोवैज्ञानिकना है और है कामशास्त्रीयता। 'विजन' परिवेश में पूरी कविता में दो प्रमुख व्यापार दिखलाये गये हैं। पहला व्यापार नायिका के स्वस्थ शयन का है और दूसरा रतिक्रिया का। इन दोनों व्यापारों के लिए विजनता आवश्यक है। कोलाहल से भरे परिवेश में स्वस्थ शयन नहीं हो सकता। और एकान्त के अभाव में रति क्रिया असम्भव है दूसरा द्रष्टव्य शब्द 'सुहाग' है। इसकी अर्थसूक्ष्मता है कि नायिका विवाहिता है। वह स्वकीया नायिका है, परकीया नहीं। 'खेल रंग प्यारे संग' वाली जुही की कली अन्त में काम-कुशला सिद्ध होती है। 'सुहाग' से पूर्व संकेत के रूप में उसकी भी अर्थ-सूक्ष्मता प्रकट है कि नायिका सुहाग-रात के मिलन-मोद से भरी पूरी है। 'जुही की कली' शब्द में भी अर्थ की सूक्ष्मना है। 'निराला' ने 'सकल तनु सुवेशा पद्मिनी पद्मगंधा' और 'तिलकुसुम सुवासा स्निग्ध देहोत्पलाक्षी' के पद्मिनी और चित्रिणी भेद जैसे ही 'अमल कोमल तनु तरुणी—जुही की कली' में यूथिका-नायिका की उदात्त कल्पना-भावना की है। गोवर्धन ने स्त्री-शरीर में मृदुता, कृशता, अति कोमलता, कान्ति, उज्ज्वलता और सुकुमारता को प्रमुख अपेक्षित गुणों की मर्यादा दी है। 'निराला' की चर्चित यूथिका-नायिका इन समस्त गुणों की सद्यः साकारिता है।

'भिक्षुक' की पक्तियाँ हैं—

> "बायें से वे मलते हुए पेट को चलते
> और दाहिना दया-दृष्टि पाने की ओर बढ़ाये।"

यहाँ बच्चों का दाहिना हाथ फैलाना अर्थ की सूक्ष्मता ही प्रकट करता है। यह संस्कृति-समर्थक अन्तःदृष्टि है। 'भिक्षुक' की दूसरी पंक्ति है—

> "चाट रहे जूठी पत्तल वे कभी सड़क पर खड़े हुए।"

'चाट रहे' 'जूठी पत्तल' 'सड़क पर' और खड़े हुए'—इन चारों वाक्यांशों में अर्थ की सूक्ष्मता है। चाटना मनुष्य के भोजन का निजी और सामान्य धर्म नहीं है। यह कुत्ते आदि पशु-विशेष की भोजन-प्रणाली है। मनुष्य साधारणतः चबाता है, पर पत्तलों पर अन्न हों तब तो उन्हें चबाया जाए! कविनियोजित अर्थ की सूक्ष्मता है कि यहाँ अन्न के उतने ही कण शेष हैं, जो चाटे जा सकें। 'चाट रहे' से मानवीय रूप का जो पतन-स्खलन स्पष्ट होता है वह जूठी पतल के साथ और तीव्र हो उठता है। 'सड़कपर' में जूठी पत्तलों पर पड़ती

धूल और रोग के चिपकते कीटाणु की अर्थ सूक्ष्मता निहित है। जूठी पत्तल चाटने की यह स्थिति निरापद भी नहीं है। परन्तु वे हटने में असमर्थ हैं। कुछ दिखरी पत्तलों से क्षुधा-शान्ति का उपाय करते समय भीत-मन बैठना भी तो सम्भव नहीं—"और झपट लेने को उनसे कुत्ते भी हैं अड़े हुए।"

'सखि, वसन्त आया' की दो पंक्तियाँ हैं—

"लता-मुकुल-हार-गन्ध भार भर
बही पवन बन्द मन्द-मन्दतर,"

इनमें 'भार' 'भर' और 'मन्दतर' शब्द से अर्थ की सूक्ष्मता प्रकट होती है। मालाकार लता मुकुलों से गन्ध-भार प्राप्त कर चलने वाला पवन भार वहन करने के कारण मन्द से मन्दतर गति में है। अथवा हाराकारवत् लता मुकुलों में गन्ध-भार भर देने वाला पवन रुक-झुक कर देने के कारण ठाँव-ठाँव विरमने की स्थिति में है। अर्थ की सूक्ष्मता की दिशा में 'भार' से 'भर' का सबध लता मुकुलों में भरने अथवा लता मुकुलों से भरने, दोनों ही अर्थों में स्पष्ट है। फिर 'भार' और 'भर' के कारण 'मन्दतर' की सूक्ष्मता तो बड़ी ही प्रकृत है।

'निराला' की कविताओं में अर्थ की ऐसी असख्य सूक्ष्मताएँ, अनगिन बारीकियाँ हैं। लगता है, अर्थवत्ता के अभिनन्दन के लिए ही उन्होंने भाषा में शब्दों को तोल तोल कर पिरोया है—

भाषा में तुम पिरो रही हो शब्द तोलकर
किसका यह अभिनन्दन होगा आज[17]

'निराला'—काव्य अर्थ की उच्चावचता का भी आकर है। उच्चावचता के कई रूप होते हैं। कहीं यह अर्थ की तीव्रता के कारण आती है तो कहीं अर्थ की चरम सीमान्तता के कारण, कहीं अर्थ की बहुमूल्यता के कारण आती है तो कहीं अर्थ की उदात्तता के कारण।

अर्थ की क्रमिक तीव्रता तुलनात्मक रूप में अर्थ को शाणित करती जाती है। फलत: अर्थ नुकीला और पैना होकर एक सीमा पर बिल्कुल 'पोयटेड' हो जाता है। इस प्रकार तीव्रता के एक से दूसरे, दूसरे से तीसरे और तीसरे से चौथे स्तर का विकास उच्चावचता का सर्जन करता है। 'तोड़ती पत्थर' 'मैं अकेला, देखता हूँ आ रही मेरे गगन की सांध्य वेला'[18] आदि कविताओं में अर्थ की तीव्रता दर्शनीय है।

---

१७ 'तरंगों के प्रति' शीर्षक कविता परिमल (पञ्चावृत्ति), पृष्ठ—८१।
१८. 'मैं अकेला' शीर्षक कविता अणिमा।

'तोड़ती पत्थर' की प्राकृतिक पृष्ठभूमि है—

"चढ़ रही थी धूप,
गर्मियों के दिन,
दिवा का तमतमाता रूप,
उठी झुलसाती हुई लू,
रुई ज्यों जलती हुई भू,
गर्द चिनगी छा गयी,
प्रायः हुई दुपहर—"

इन पंक्तियों में अर्थ के एक-एक स्तर को उत्क्रमित कर क्रमशः अन्यान्य सोपानों पर बढ़ती हुई तीव्रता बड़ी प्रखर है। एक तो धूप चढ़ने लगी थी। दूसरे, गर्मी के दिन थे। इसलिए धूप में तल्खी और ज्यादा थी। तीसरे, दिन बिल्कुल निर्बन्ध था। कहीं कोई आकाशीय मेघ-खंड नहीं। वह दिन और दिनों के बजाय ज्यादा तमतमाया हुआ अथवा उत्तप्त था। चौथे, ऐसे दिवस में झुलसा देने वाली लू उठने लगी थी। पाँचवें, पृथ्वी जलती हुई रुई की तरह लहक उठी थी। छठे, गर्द-गुबार चिनगी की तरह उत्तप्त होकर छा-व्याप गये थे। सातवें, प्रखर मध्याह्न का समय भी हो आया था। इस प्रकार तीव्र से तीव्रतर और निरन्तर तीव्रतर होते हुए तीव्रतम तक पहुँचा देने वाली अर्थ-प्रक्रिया स्पष्ट है।

अर्थ की तीव्रता का दूसरा उदाहरण अणिमा-के एक आत्मपरक गीत की निम्नलिखित पंक्तियों में भी प्राप्त होता है—

"पके आधे बाल मेरे
हुए निष्प्रभ गाल मेरे
चाल मेरी मन्द होती जा रही,
हट रहा मेला!
मैं अकेला, देखता हूँ आ रही मेरे गगन की सांध्य-वेला!"

'पके बाल' से अधिक तीव्र वृद्धता का बोधक 'निष्प्रभ गाल' है। 'निष्प्रभ गाल' से भी अधिक तीव्र अहसास चाल की मन्दता में है। इससे भी ज्यादा तीव्रता 'हट रहा मेला' में है। उससे भी तीव्रतर 'मैं अकेला' का अर्थ-बोध है। और सबसे तीव्र, तीव्रतम अर्थ 'आ रही मेरे गगन की सांध्य वेला' का है। तीव्रता का यह आनुपातिक अर्थबोध ही इन पंक्तियों की महती अर्थवत्ता है।

'निराला' की कविताओं में अर्थ की चरम सीमान्तता शब्द प्रयोग अथवा पद शय्या में उपलब्ध होती है। अर्थ की चरम-सीमान्तता प्राय द्विकोटिक होती है—अनुकूल और प्रतिकूल। निराला की कविताओं में दोनों ही प्रकार की चरम-सीमान्तता के अर्थ प्रयोग मिलते हैं। 'राम की शक्तिपूजा' में प्रयुक्त 'एकादशरुद्र'[१९] 'स्थविरदल'[२०] जैसे शब्दों में अर्थ की अनुकूल चरम-सीमान्तता है। 'पहुचा एकादश रुद्र क्षुब्धकर अट्टहास' में 'एकादश रुद्र' अर्थ को चरम-सीमान्तता पर ले जाता है। रुद्र का रौद्र और उसमें भी एकादशवें रुद्र का रौद्र क्षुब्धता और अट्टहास के लिए परिणति पर जाएगा ही। 'एकादश रुद्र' की चरम-सीमान्तता उस साभिप्रायता को भी प्रकट करती है, जिसके अनुकूल हनुमान रुद्र के ही अवतार हैं—'रुद्र देह तजि नेह बस बानर भा हनुमान[२१]" 'राम की शक्ति पूजा' में स्थविरदल' का प्रयोग खिन्न वानर-वाहिनी की मन्द श्रान्त चाल का प्रत्यक्ष कराने के लिए हुआ है—

"वानर-वाहिनी खिन्न लख निजपति चरणचिह्न
चल रही शिविर की ओर स्थविर दल-ज्यों विभिन्न।"

'स्थविर' लकुटी थामकर चलने वाले श्रान्त क्लान्त वृद्ध की निराशा और अशक्ति को एक साथ उद्भिन्न कर देता है। यह शब्द ईप्सित अर्थवत्ता को प्रकर्ष पर ले जाता है। अनुकूल और प्रतिकूल दोनों ही रूपों में चरम-सीमान्तता 'तोड़ती पत्थर' के अन्त में प्रयुक्त 'तोड़ती' शब्द में है—

'एक छन के बाद वह काँपी सुघर
ढुलक माथे से गिरे सीकर,
लीन होते कर्म में फिर ज्यों कहा—
मैं तोड़ती पत्थर।"

अर्थ की अनुकूल चरम-सीमान्तता मजदूरिन के पत्थर ही तोड़ने में नहीं, अपितु पत्थर हृदय को तोड़ने में तथा[२२] प्रतिकूल चरम-सीमान्तता 'तोड़ने' के नष्ट करने, मिटा देने में नहीं, अपितु जोड़ने में, निर्माण करने में है। 'जोड़ने का यह अर्थ स्पष्ट मार्ग के निर्माण से सम्बद्ध है।

१९ 'रामकी शक्तिपूजा' शीर्षक कविता अनामिका (चतुर्थ संस्करण), पृष्ठ—१५७।
२० 'राम की शक्तिपूजा' शीर्षक कविता अनामिका (चतुर्थ संस्करण), पृष्ठ—१५३।
२१ तुलसीदास दोहावली (शीतला प्रसाद तिवारी), दोहा संख्या—१४२, १४३, पृष्ठ—४३।
२२, साहित्य, अक्तूबर १९५० में प्रकाशित निराला का पत्र।

'निराला' काव्य की अर्थवत्ता में जहाँ अर्थ की विविधता, अर्थ की सूक्ष्मता, अर्थ की क्रमिक तीव्रता और चरम-सीमान्तता का कारण प्रायः व्यंजना शक्ति है वहाँ उनकी कविताओं में अर्थ की बहुमूल्यता के मूल में प्रतीक-विधान की सक्रियता है। कवि जहाँ प्रतीक विधान करता है वहाँ शब्दों के सामान्य अर्थ फीके पड़ जाते हैं और प्रतीकित अर्थ बहुमूल्य हो उठते हैं। 'जुही की कली' और 'कुकुरमुत्ता' में यही प्रतीकात्मता है। फलतः वहाँ अर्थ के धरातल पर एक सामान्य अर्थ-योजना है और दूसरी विशेष आशयपूर्ण। श्रीनन्ददुलारे वाजपेयी ने 'निराला'—काव्य में प्रतीक की अवस्थिति को व्यंजना शक्ति में ही अन्तर्भुक्त करने की चेष्टा की है।२३ पर उनके काव्य में प्रतीक को सर्वथा स्थान नहीं देना उचित नहीं है; क्योंकि व्यंजना-शक्ति की प्रक्रिया काव्य में अर्थ विस्तार की प्रक्रिया है और प्रतीक की प्रक्रिया अर्थ-नियोजन की। फिर व्यंजना शक्ति से उरेही जाने पर कविता में अनेकानेक अर्थच्छवियाँ सम्प्राप्त हो सकती हैं, पर प्रतीक के माध्यम अर्थ-द्वयता ही उपलब्ध हो सकती है। 'कुकुरमुत्ता' की निम्नलिखित पंक्तियों में प्रतीक-विधानवश उपलब्ध अर्थ की यही बहुमूल्यता है—

"अबे सुनबे गुलाब, भूल मत अगर पाई खुशबू रंगो आब,
खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट डाल पर इतरा रहा है कैपिटलिस्ट
कितनों को तूने बनाया है गुलाम मालीकर रखा, सहाया जाड़ा-घाम।"२४

यहाँ 'गुलाब' अभिजातवर्ग का प्रतीक है और कहने वाला कुकुरमुत्ता शोषित जनता का। निराला जी ने 'कुकुरमुत्ता' में अर्थ की नियोजना इसी प्रतीक रूप में की है। यह और बात है कि 'कुकुरमुत्ता' में यत्र-तत्र छिटफुट रूप में व्यंजना शक्ति के माध्यम अन्य व्यंग्य भी उद्घाटित होते हैं।

'निराला' की कविताओं में अर्थ की उदात्तता का संबंध भाव की आवेगिकता, पूर्णसंश्लिष्ट बिम्बात्मकता, उसकी गत्वरता तथा पदशय्या की अनुकूलता से है। यह अर्थ की उदात्तता सामान्य अर्थ-विधान से काफी ऊपर उठ जाती है। 'रामकी शक्तिपूजा' के नीचे लिखे तीनों उद्धरणों में अर्थ की उदात्तता उपलब्ध होती है—

१. आजका, तीक्ष्णशर-विधृत-क्षिप्रकर वेग-प्रखर,
शतसेल संवरणशील, नीलनभ गर्जित-स्वर,

---

२३. नन्द दुलारे वाजपेयी : कवि निराला, पृष्ठ—१३२।
२४. कुकुरमुत्ता (प्रथम संस्करण।

को अर्थ देने की जो सावधानता है उसके मूल में प्रबुद्ध पाठक के ज्ञान की भावना भी है। जैसा डैविड डैचेज ने लिखा है, "सचा रचनात्मक लेखक पोखरे में डाले जाने वाले पत्थर की तरह हमारे मस्तिष्क के प्रति शब्दों को अर्पित करता है और अर्थ के अनवरत फैलते दायरे हमारे अपने अनुभव के खजाने के चारों ओर चक्कर मारते और उन्हें वलयित करते हैं।[३०] 'निराला' की कविताओं में अर्थवत्ता का दूसरा रहस्य शब्द के परे शब्दातीत की सही पहचान में निहित है। 'निराला' मूक भाषा की कथनी से भी खूब परिचित थे—

"मौन मधु हो जाय भाषा मूकता की आड़ में
मन सरलता की बाढ़ में जल विन्दु सा बह जाय।"[३१]

अथवा

"मौन भाषा थी उनकी किंतु व्यक्त था भाव"[३२]

फलत इनकी कविताओं में शब्दातीत अर्थ के झरोखे पर-झरोखे खुले हैं। पर इन सबकी झाँकी अभी तक पाठक अथवा आलोचक नहीं ले सके हैं, जब कि आलोचना का प्रधान कार्य अर्थों की इन्हीं सांकेतिक बहुस्तरीयता को पाठक के लिए सुस्पष्ट करना है।[३३]

मेरी दृष्टि में अर्थवत्ता सर्वोपरि काव्यमूल्य है। बिम्ब, प्रतीक, व्यंजना आदि इस अर्थवत्ता के ही साधन हैं। इनमें से किसी एक को काव्य-मूल्य मान लेना साधन को साध्य मान लेने की भूल करना है। अर्थवत्ता इन सबसे ऊपर है, क्योंकि ये सब उसे ही भास्वर और उजागर करते हैं। अर्थवत्ता व्यापक काव्य मूल्य है। इसका सत्कार भाव और शिल्प दोनों ही से होता है। यह देश-कालातीत तथा दल-आन्दोलन मुक्त है। रस को काव्य मूल्य मानने में जो संकीर्ण शास्त्रीय कसाव है, उससे भी यह सर्वथा परे है। अत जिस कवि की कविता में अर्थवत्ता जितनी महती, व्यापक, विराट् और भास्वर है, तिले-तिले नूतन होय है वह उतना ही बड़ा कवि है। निश्चयत इस काव्य-मूल्य के निकष पर 'निराला' आधुनिक हिन्दी काव्य-साहित्य में 'बानी में मानी' का अप्रतिम कवि है।

---

३० ए स्टडी आफ लिटरेचर, पृ० ३३।
३१. 'मौन' शीर्षक कविता, परिमल (षष्ठावृत्ति), पृष्ठ—२९।
३२. 'स्वप्न-स्मृति शीर्षक कविता, परिमल (षष्ठावृत्ति), पृष्ठ—१५८।
३३. लिटरेरी क्रिटिसिज्म ए शार्ट हिस्ट्री, पृ० ६५२।

'लहर' में प्रसाद् का आत्म-तत्त्व

हेम भटनागर

जब हम काव्य में किसी कवि के व्यक्तित्व को ढूंढने लगते हैं, तो यह मानकर चलते हैं कि कविता मुक्तक या गीति-काव्य होगी। महाकाव्य या प्रबंध-काव्य में कवि यद्यपि अनेक स्थानों पर अपने आप को प्रकट करता है, फिर भी आत्म-तत्व सबसे अधिक प्रगीत में ही सामने आ पाता है। कवि का आत्म-तत्व पहचानने के लिए हम उसे तीन दृष्टियों से देखेंगे।

१—कवि का जीवन २—कवि का दर्शन और चिन्तन ३—कवि की शैली।

जयशंकर प्रसाद हिंदी साहित्य में कवि, नाटककार, उपन्यासकार, कहानीकार तथा निबंध-लेखक के रूप में आ चुके हैं। मैं उन्हें सबसे अधिक कवि मानती हूँ। प्रसाद का कवि-रूप भी दो भागों में बंटा हुआ है—एक महाकवि दूसरा गीतकार कवि। महाकवि प्रसाद ने कामायनी जैसे प्रसिद्ध महाकाव्य की सृष्टि की है, जो दर्शन तथा काव्य की अपूर्व कृति है। गीतकार (कवि) ने प्रेम के गीत गाए हैं, जिनमें प्रेम-पथिक, झरना, आंसू और लहर आदि काव्य-कृतियां आती हैं। लहर जो गीति-काव्य की प्रौढ़तम कृति है, उसी के आधार पर मैंने प्रसाद के व्यक्ति को प्रस्तुत करने की चेष्टा की है।

गीत और प्रगीत क्या हैं—इसके सैद्धांतिक विवेचन में जाने की यहां आवश्यकता नहीं है—हिन्दी के प्रसिद्ध छायावादी कवि सुमित्रानंदन पंत के शब्दों में—

> "वियोगी होगा पहला कवि,
> आह से उपजा होगा गान
> उमड़ कर आंखों से चुपचाप
> बही होगी कविता अनजान।"

कवि कल्पना करता है—किसी व्यक्ति की तीव्रतम अनुभूति के लिए मनःस्थिति वियोगात्मक ही होगी। आहों ने ही गान की सृष्टि कर दी होगी। भावाधिक्य से कविता अनजाने में उमड़ कर बहने लगी होगी। भावाधिक्य, आत्मानुभूति और संगीतमयता के कारण प्रसाद की लहर की इन कविताओं को ऐसे ही अनजाने में उमड़ आने वाले प्रगीत कहा जा सकता है। यद्यपि स्पष्ट रूप से यहां प्रसाद ने अपना परिचय कहीं नहीं दिया है, फिर भी अस्पष्ट रूप से जो कुछ कवि का व्यक्तित्व हमें झलकता हुआ दिखाई देता है, वह हम यहां देखेंगे।

प्रसाद मुख्यतया प्रेम के कवि हैं। प्रेम भी ऐसा जो लौकिक आलंबन को लेकर चलता हुआ भी अपने प्रिय को अत्यन्त अलौकिक रूप में प्रस्तुत करता है। कवि की सभी काव्य-कृतियों में प्रेम की पुकार, प्रेम की व्यथा और प्रेम-संबंधी अतृप्त आकाक्षाएं मिलती हैं। ये

पत्रिका 'हंस' के लिए जब इनसे अपना जीवन-चरित लिखने के लिए कहा तो जो कविता इन्होंने लिख कर भेजी, वह इसकी परिचायक है।

मिला कहां वह सुख, जिसका मैं स्वप्न देखकर जाग गया।
आलिंगन में आते आते मुसक्या कर जो भाग गया।

जिसके अरुण कपोलों में डूबे हुए सुबह हो जाती थी, उसकी अब केवल याद ही शेष है। कवि को यह भी लगता है कि इस व्यथा को उसने बड़ी कठिनाई से भुलाया है, अब उसे फिर से पूछ कर क्यों उभाड़ना चाहते हो ?

"सीवन को उधेड़ कर देखोगे क्यों मेरी कथा की ?"

और

"अभी समय भी नहीं—थकी सोई है मेरी मौन व्यथा।"

पत्नी के प्रति अभिव्यक्ति में गंभीरता और शीतलता का समावेश हो गया है—

'कोमल-कुसुमों की मधुर रात
शशि-शतदल का यह सुख-विकास
जिसमें निर्मल का हो रहा हास
उसकी सांसों का मलय-वात।

या

साहचर्य के कुछ दिनों की सुंदर स्मृति के विषय में कवि कहता है—

'वे कुछ दिन कितने सुंदर थे ?
जब सावन घन सघन बरसते
इन आंखों की छाया भर थे।'

आलम्बन कोई भी हो प्रसाद के प्यार का स्वरूप दिव्य था, प्रेम का काल्पनिक लोक प्रसाद ने बनाया था—जहां समर्पण हो, त्याग हो, और सचाई हो। चाहे वैसा ही शारीरिक या मांसल प्रेम हो, उसमें भी आदर्श की छाप रहती है।

प्रसाद को प्रेम का प्रतिदान नहीं मिला—तो धीरे से ध्वनि कंपित करता हुआ पुकार उठता है—

'मुझको न मिला रे कभी प्यार।

या जगती से पूछता है—

अरे कहीं देखा है तुमने
मुझे प्यार करने वाले को ?
मेरी आंखों में आकर
आंसू बन ढरने वाले को ?

और अंत में इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि यदि प्यार करना है तो, दिए जाओ—लेने की न चाह करो न पाने की आशा—

'पागल रे! वह मिलता है कब ?
उसको देते ही हैं सब।

एक ओर आदर्शवादी महत्वाकांक्षाएं और दूसरी ओर सामाजिक, साहित्यिक और आर्थिक सभी ओर से आलोचनाएं, सबने कवि को इतना अभाव-पूर्ण बना दिया है कि बार-बार उसे अपने खोखलेपन का आभास होता है—बार-बार वह संसार के कलुष, स्वार्थ और अन्य लोगों की प्रवंचना से पीड़ित होता है।

'औरों की प्रवंचना कहूँ या अपनी भूलें।

और इसी से वह उस लोक में निवास करता है या करना चाहता है, जहां यह सब कोलाहल न हो। केवल वही सत्य हो, जिसे प्रसाद ने अपने कल्पना-लोक में देखा है, यही प्रसाद का आदर्शवादी प्यार है, यही प्रसाद का पलायनवाद है—यही प्रसाद का वैराग्य है— प्रेम जन्य निराशा है और यही उनका दर्शन है।

कवि कहता है—

ले चल मुझे भुलावा देकर
मेरे नाविक धीरे-धीरे।
जिस निर्जन में सागर-लहरी
निश्छल प्रेम-कथा कहती हो
तज कोलाहल की अवनी रे।

यही प्रसाद का प्यार भरा काल्पनिक लोक है—जिसमें इस संसार का स्वार्थभरा कोलाहल न हो, केवल लहरें प्रेमिकाएं हों और अम्बर प्रिय हो। प्रेम की गहरी कथा को चुपके से कानों में कहती हो—बाधा देने वाला कोई व्यक्ति न हो।

इस वैरागी वृत्ति और जीवन के प्रति निराशा भरे दृष्टिकोण के पीछे जीवन संघर्षों से ऊबा हुआ प्रसाद का व्यक्ति दिखाई देता है।

परिवार में पिता, माता, बड़े भाई और दो पत्नियों की मृत्यु ने इन्हें जीवन में सुख की क्षण भंगुरता का खूब अच्छी तरह परिचय करा दिया था। ग्यारह वर्ष की अवस्था से ऐसे भीषण दुखों का अनुभव करके प्रसाद अंतर्मुखी और दार्शनिक हो गए। इनके मित्र भी थे, परंतु मित्रों ने बाद में धोखा दिया। कुछ अच्छे मित्रों ने ही मिलकर तीन नाटक के नाम से इनके विरुद्ध एक किताब निकलवा दी, जिसमें परोक्ष रूप से इन्हीं के साहित्य की आलोचना की गई थी। इससे प्रसाद के मन पर बड़ा-बुरा प्रभाव पड़ा। प्रसाद की कविता का छायावादी रूप था, अत शब्दजाल था, अस्पष्टता थी, अपने मन के भावों को प्रतीकात्मक ढंग से कहा गया था—तो उस युग में जहां प्रेमचद जैसे स्पष्टवादी लेखक थे, इनकी कविता का समादर नहीं किया गया। इनके उपन्यास, नाटक, कविता सभी में आदर्श था—जो यथार्थ से दूर था, अत: साहित्यिक आलोचनाएं भी सुननी पड़ती थीं। उधर बड़े भाई की मृत्यु के बाद कुछ सम्पत्ति के विषय में मुकदमे भी हुए, जिससे धन का भी कष्ट हो गया। अच्छे व्यापारी और धनी परिवार में जन्म लेने के कारण धन का अभाव भी निश्चित रूप से समाज में उपस्थिति को कष्टकर बना देता होगा।

इस प्रकार से अभावों के संसार की अनुभूति करते हुए कवि कहता है—

'अपलक जगती हो एक रात
वक्षस्थल में जो छिपे हुए
सोते हों हृदय अभाव लिए
उनके सपनों का हो न प्रात'

अभावों से उत्पन्न हुई निराशा काव्य में सर्वत्र फैली हुई है—

'निधरक तूने ठुकराया तब
मेरी टूटी प्याली को।'
या
अरे कहीं देखा है तुमने,
मुझे प्यार करने वाले को।

प्रिया से मिलन के चित्र कवि सदैव खींचता है—और उसी की कामना करता है—

'स्नेहालिंगन की लतिकाओं की झुरमुट छा जाने दो।
जीवन-धन, इस जले जगत को वृन्दावन बन जाने दो।'

घोर नैराश्य मानों जीवन में छा गया है। अपने जीवन को 'सूखे तट' या 'बालू भरे तट' से समानता दिखाता है और तभी आशा की एक किरण भी कवि को आनंद से भर देती है। सुख-के दो-चार दिन भी कवि संजो कर रख लेना चाहता है।

'अरे आ गई है—भूली सी यह मधु ऋतु दो दिन को'

इसमें मलयानिल की लहरें सिहरन भरती हुई कंपन लिए आवेंगी मानस और नयनों को चुंबन लेकर जगा देंगी—हँसी भरे अधरों का अनुराग मेरे दिन को सुंदर बना देगा। एकांत-सुख अमूल्य निधि के समान है, अतः ऐसे क्षणों में कवि कहता है—

'इस एकांत सृजन में कोई
कुछ बाधा मत डालो।'

सुख की क्षणिकता से ऐसा डरा हुआ है कवि, कि उन मिलन की घड़ियों में भी प्रेमाश्रु गिराने लगता है। प्राची की लज्जा भरी चितवन में रात भर प्रिय के साथ मिलन के सुख का आभास मिलता है, आंखों में रात्रि के जागरण की ललाई भरी है, उसका वर्णन करते-करते अचानक आंखें छलछला आती हैं।

इन्हीं विषम परिस्थितियों से जहां प्रसाद निराश, दुखी और अंतर्मुखी हो गया, वहीं दार्शनिक चिन्तन भी उसके जीवन का एक अंग हो गया।

प्रसाद शिव-भक्त थे। इनके घर में ही शिव का मंदिर बना था। कहते हैं, पुत्र जन्म भी शिव की कृपा से हुआ। बौद्ध दर्शन की करुणा और शैव दर्शन के आनन्दवाद का प्रभाव सर्वत्र प्रसाद पर छाया दिखाई देता है। इसके परिणामस्वरूप गीतों में कवि की वेदना, विश्व-वेदना बन कर कण-कण में छाई है।

'वसुधा के अंचल पर
यह कण कण-सा गया बिखर।'

और आनंद का रूप भी विश्व-व्यापी है। अपनी प्रसन्नता विश्व में बिखेर देना चाहता है—

'हो रहा विश्व सुख-पुलक गात।'

स्वयं आनंदमय हो कर कवि मधु-मंगल की वर्षा का अनुभव करता है।

आनंद की अनुभूति कवि के गीतों में आत्मबोध या जागरण के संदेश के रूप में मिलती है। इन प्रभात-गीतों के पीछे राष्ट्रीय चेतना भी छिपी है—

बीती विभावरी जाग री
या
आँखों से अलख जगाने को
यह आज भैरवी आई है।
या
अब जागो जीवन के प्रभात

प्रसाद का दर्शन प्रसाद के प्रिय का स्वरूप दिव्य तो बनाता ही है, साथ ही रहस्यात्मक भी बना देता है। प्रसाद का मन भारतीय संस्कृति के संस्कारों में डूबा हुआ है। भारतीय दर्शन प्रसाद के काव्य में भी ऐसे स्वाभाविक रूप से आ गया है जिसे अलग करना कठिन-सा जान पड़ता है। प्रेम की दिव्यता का परिचय हमें प्रेमी की दृष्टि से मिल जाता है। प्रसाद का आलंबन अत्यन्त प्रत्यक्ष, मांसल या शरीरी है, फिर भी उसके प्रेम में वासना की गन्ध क्यों नहीं आती? उसमें नैसर्गिक प्रेम की सुगंधि क्यों आती रहती है? इसका कारण यही है कि प्रसाद का प्रेम दर्शन के मिश्रण से अलौकिक, परोक्ष तथा अशरीरी हो गया है। वह स्वयं अपनी प्रिया के स्वरूप को पहचान नहीं पाता। पूछता है—

तुम हो कौन और मैं क्या हूँ?

और फिर मानों अपने आप से स्पष्ट करता है, हम दोनों व्यक्ति-मात्र नहीं हैं—हमारे व्यक्तित्व महत्व नहीं रखते हैं—हमारा संबंध महत्वपूर्ण है।
वह खुलता है—

इसमें क्या है धरा सुना
मानस जलधि रहे चिर-चुम्बित,
मेरे क्षितिज उदार बनो।

मेरा मानस जलधि के समान है—तुम आकाश हो यह कवि कहना चाहता था पर नहीं कह पाया—क्यों? जलधि और आकाश का संबंध होने पर फिर व्यक्ति महत्वपूर्ण हो उठता है। मैं लौकिक जलधि हूँ। मेरा मानस वह स्थल है, जहां तुम्हारा मिलन होगा। पर प्रिय के लिए शब्द ढूंढने पर उसे लगा कि सबसे उपयुक्त शब्द क्षितिज है—क्षितिज, जो एक काल्पनिक रेखा मात्र है, जो जलधि और आकाश को मिलाती-सी लगती है। तुम मेरे

क्षितिज हो—वही मिलन-रेखा हो अर्थात् संबंध मात्र हो और तुम्हारे उदार बनने पर ही मैं तुम्हारे समीप आ सकता हूँ।

यहां अद्वैतवाद का चित्र मेरे सम्मुख आ जाता है। जहां आत्मा के भीतर परमात्मा का समावेश साधक का चरम लक्ष्य है। परमात्मा कोई व्यक्ति नहीं, केवल आत्मा की उदात्त अनुभूति है; जो स्वयं अपने ही भीतर परमात्म जैसी ज्योति पा कर आनंदित होती रहती है।

इस प्रकार प्रसाद की प्रेयसी संबंधी कल्पनाओं में सूफी, अद्वैत, शैव और बौद्ध दर्शनों की परोक्ष चेतना व्याप्त है।

प्रिय एक प्रकाश-पुंज के रूप में आता है और जीवन में ज्योति भर जाता है या आत्मा को प्रकाशित कर जाता है। प्रिय का स्वरूप लौकिक धरातल से इतना ऊँचा उठ गया है कि उसे ब्रह्म यदि न भी मानें तो रहस्यात्मक अवश्य कहना पड़ता है।

शैली कैसे कवि को सामने लाती है। इस पर बहुत कुछ कहा जा सकता है। यहां उस विस्तार में जाना संभव नहीं है। प्रगीत छंद और संगीत तत्व दोनों ही आत्म-तत्व के प्रमुख हो जाने के कारण आए हैं।

हम चाहे यह निश्चय पूर्वक न कह सकें कि प्रसाद स्वयं गायक थे, क्योंकि इसका उल्लेख स्पष्ट रूप से कहीं नहीं मिलता, परंतु उनकी विशिष्ट शब्दावली और कुछ प्रयोगों से यह सिद्ध हो जाता है कि वे संगीत-शास्त्र के पूर्ण ज्ञाता थे। शास्त्रीय संगीत का परिचय नाटकों में तो अत्यन्त प्रबल है ही, कविता में भी कवि के चुने हुए शब्द, उपमान और उसके बनाए हुए वातावरण सभी लय और गान भर देते हैं।

प्रिय को ज्योति की भीख देने के लिए बुलाता हुआ कवि कहता है—

> प्राणों की व्याकुल पुकार पर एक मींड़ ठहरा जाओ
> प्रेम वेणु की स्वर-लहरी में जीवन-गीत सुना जाओ।

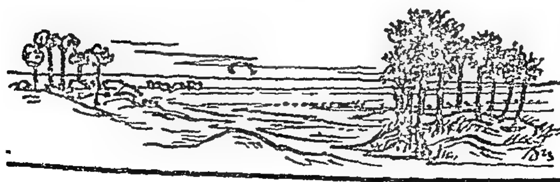
मींड़ शब्द का प्रयोग केवल वही व्यक्ति कर सकता है, जिसने भारतीय संगीत का रस लिया हो। मींड़ का अर्थ है सितार के एक स्वर को खींच कर उसी परदे से मध्यम का स्वर सौंदर्य ले आना। मध्यम पर बिना जाए गांधार में ही जब उस स्वर का आंदोलन होता है तो उसमें कौशल भी है और रस का सामंजस्य भी—करुणा भी है और अनुराग भी। सब मिल कर श्रोता के हृदय को रस-मग्न कर देते हैं। प्राण जो व्याकुल हैं कवि के—वहीं तुम ठहरो—जिससे व्याकुलता को भी तुम समझ सको और इसी व्याकुलता को खींच कर जो स्वर मेरे

जीवन में भरोगे वह करुण भी होगा और मधुर भी। एक अनुपम सौंदर्य की सृष्टि कर देगा। ऐसे शब्द का रस लेकर गीत में प्रयोग केवल एक संगीतज्ञ ही कर सकता है।

आंखों में रात्रि का शृंगार रस भरा देख कर कहना कि 'आंखों में भरे विहाग री' या कोकिल की कूक को नृत्य से शिथिल बिछलती हुई कल्पना करना, कवि के संगीतमय हृदय की पहुँच है। भोर के समय जागरण का संदेश देने वाली भैरवी, रागिनी भैरवी के स्वरूप से साम्य रखती है।

इस प्रकार कवि आदर्श, दिव्य, विश्व-व्यापी संदेश-वाहक के रूप में लहर में प्रस्तुत होता है। लहर के हर गीत की भूमिका यही है—प्रेम अनंत में फैल जाय—ऐसा उसका संदेश है—

> मेरा अनुराग फैलने दो
>
> नभ से अभिनय कलरव में
>
> जाकर सूनेपन के तम में
>
> बन किरन कभी आ जाना।



प्रवृत्ति-निवृत्ति के प्रकरण में कुरुक्षेत्र

विकासचन्द्र सिन्हा

आध्यात्मिक पुरुषार्थवाद से स्वभावतः उत्पन्न होने वाली मानसिक स्थितियों में प्रवृत्ति और निवृत्ति दो महत्वपूर्ण स्थितियाँ हैं। भारतीय साहित्य विशेषकर संस्कृत-हिन्दी साहित्य इन दो प्रवृत्तियों के प्रति विभिन्न दृष्टियों से प्रतिक्रियात्मक रहे हैं। यद्यपि व्यावहारिकता के विचार से ये भिन्न प्रतीत होती हैं तथापि उद्देश्य की दृष्टि से इन दोनों प्रवृत्तियों का लक्ष्य अन्ततः एक ही है। वस्तुतः जीवनाभीष्ट के ये बाह्यतः ही दो भिन्न भासमान् मार्ग हैं। विश्वव्यवहार, सृजन-व्यापार, जीवन-कल्याण-दृष्टि से इनके मूल्यधारी पूर्वा पर, ग्राह्य-त्याज्य, पर विस्तृत विवेचन उपलब्ध होते हैं। यद्यपि उपनिषद् काल से लेकर आज तक कालानुगत, तर्क-आस्था के उभय आग्रही रहे हैं तथापि सृष्टि-समर्थकों ने, विश्वार्थ कर्मवादियों ने विश्वात्मा अथवा आत्मैक्य के प्रकरण में, आत्मानुभवियों ने प्रवृत्ति को ही अनुसरणीय मान कर प्रधानता दी है। यह ठीक है कि कल्याणार्थ पात्र-सामर्थ्य-दृष्टि से उपनिषदों में निवृत्ति-मार्ग की प्रतिष्ठा सर्वोपरि है तथापि वहां वैसा इसलिए है कि तत्राकांक्षित वातावरण आत्यन्तिक आध्यात्मिक है एवं अपेक्षित दृष्टि स्यात् अत्यन्त सूक्ष्म तथापि अतिशय व्यापक है।[१] वहां के विचार की प्रधान पृष्ठभूमि है :—

> ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
> तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥१॥
>
> ईशावास्योपनिषद्।

महाभारतकार भगवान् व्यास ने भी बहुत सोच-विचार कर ही शान्तिपर्व में कहा है कि जिनमें वेद प्रतिष्ठित हैं ऐसे ये दो ही मार्ग हैं—एक तो प्रवृत्तिलक्षण धर्म मार्ग और दूसरा अच्छी तरह भावन किया हुआ निवृत्तिमार्ग[२]। यहाँ अच्छी तरह भावन किया हुआ विशेषण साभिप्राय अभिप्रेत है। वस्तुतः इस अभिप्रेत में ही इस मार्ग का रहस्य और इस मार्ग की

---

१. न्यास (निवृत्ति) का फल भी वस्तुतः सर्वात्मभाव ही है।
इति सर्वात्मभाव एव सर्वैषणा संन्यासज्ञाननिष्ठा फलम्।
—ईशावास्योपनिषद् मंत्र १४ का शांकर भाष्य।

२. द्वाविमावथ पन्थानौ यत्र वेदाः प्रतिष्ठिताः।
प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो निवृत्तिश्च विभावितः ॥ (महा० शान्तिपर्व १४१। ६)।

उपादेयता गर्भित हैं। आत्मस्वरूप के अनावरण में, सर्वविध उपादेयता की दृष्टि से, द्वैतवर्जन की उपलब्धि जिस प्रकार महाभारतकार का अभीष्ट है[३] और जिस उद्देश्योपलब्धि के लिए ही गीता में निष्काम-कर्म योग अर्थात् विशिष्ट प्रवृत्ति मार्ग की अभ्यर्थना सर्वोपरि हुई, न्यूनाधिक उसी उद्देश्य को ध्यानाधीन कर सृजन सुखाकांक्षी विश्व-कर्म के मौलिक व्याख्याता पाश्चात्य-प्राच्य दार्शनिक काल-क्रम से प्रवृत्तिमार्ग में अधिक अनुरक्त हुए। फ्रेंच दार्शनिक कांमत का प्रवृत्ति-आश्रयण सृष्टि विकास के आधिभौतिक दृष्टिकोण से ही सचालित है।[४] उसे मिल, स्पेन्सर आदि का भी अनुमोदन प्राप्त है। अन्यत्र कर्म-अकर्म-विकर्म आदि कर्म के त्रिभेद प्रवृत्ति के प्रसग में ही विवेचित—निर्धारित हुए हैं। शिव-अशिव माने गए हैं।

सृष्टि में स्रष्टा की सोद्देश्यता के, एव अनुभूति में विश्वात्मा के आह्वान की आवश्यकता के आधार पर आत्म परमात्म की व्यावहारिक व्याख्या को आधिभौतिक स्थिति तक कल्पित कर देने में, द्विविध, उपयोगिता देखने वाले अनेक कवि-साहित्यिक कालान्तर में विवेकपूर्वक प्रवृत्ति पोषक हुए। आधुनिक हिन्दी के सर्वश्री श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी, गुप्त, हरिऔध प्रसाद, पन्त, दिनकर, प्रभृति ने अपनी रचनाओं में यथा, एकान्तवासी योगी, स्वप्न, पथिक, यशोधरा, प्रियप्रवास आदि में—प्रसाद ने अधिकतर अपने नाटकों में, पन्त ने अपने पद्यों में—प्रवृत्तिमार्ग को प्रश्रय दिया है। एव ठीक से नहीं समझे हुए निवृत्तिमार्ग (सन्यास) को अधिकांश में अहितकर माना है, तथा आत्मविराटता एव आत्म-सत्य की दृष्टि से विश्व-बन्धुत्व और विश्व सेवा भाव को अग्रसर करते हुए, उन्होंने वस्तुत प्रवृत्ति को निवृत्ति से हीन-कान्ति कभी नहीं माना है। वरन् विश्व-जात की कर्तव्य-पराङ्मुखता को विश्वासघात एव भर्त्सनीय ही नहीं दण्डनीय भी माना है। परिणामत उनकी रचनाओं में अधिकांश गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता प्रतिष्ठित हुई है। सर्वाश्रमों का पोषक होने के कारण, प्रकारान्तर से सर्ववृत्तियों का प्रोत्साहक होने के कारण इस आश्रम-धर्म को महाभारत शान्तिपर्व में भी श्रेष्ठ माना गया है। और स्वधर्म-श्रेष्ठता के कथन और तदनुरूप कर्त्तव्यादेश में प्रवृत्ति का स्वर कम उद्घोषित नहीं है। ये वाक्य कर्म में प्रेरणा देते हैं —

> श्रेयान् स्वधर्मो निर्गुण परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
> स्वभाव नियत कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्। ॥४७॥ गीता, अध्याय—१८
> सहज कम कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्। ॥४८॥ गीता अध्याय १०

---

३ महाभारत शान्तिपर्व अनुवाद कर्ता—चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्मा।

४ गीता रहस्य—कर्मयोग—लोकमान्य तिलक, पृ० ८६-८७।

गीता में उपदिष्ट वर्णाचरण, विश्व-संतुलन-संरक्षण के लिए ही कर्तव्य है। ऐसे कर्तव्य जीवन-साफल्य के कारणरूप धर्म हैं। ऐसे कर्माचरण में कर्म योग का आमन्त्रण है। अर्जुन को युद्धोद्यत होने के आदेश में इस कर्म योग के अनुवर्तन का उपदेश है। साथ ही निष्काम की सफलता के निवृत्तिदायी परिणाम के कथन में प्रवृत्तिगत किसी संदेह अथवा दूषणों के निवारणार्थ, गीताकार का स्पष्ट आप्त वाक्य उपलब्ध है। श्रीकृष्ण ने गीता में, श्रेयस संन्यास में भी कर्म का आह्वान किया है एवं नित्य, नियत-निर्धारित कर्मों के त्याग का वर्जन किया है। तब, यहां निष्काम कर्म का आग्रह है :—

> सन्यासस्तु महाबाहो सुखमाप्तुमयोगतः।
> योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥६॥ गीता अध्याय ५

गीता में निष्काम कर्म की ओर अधिक ध्यान दिया गया है।

निष्कर्ष यह कि, इस स्तर पर एक प्रकार से, प्रवृत्ति-निवृत्ति में न तो बहुत भेद ही है और न परस्पर विरोध ही और न यही कि पूर्वापर की दृष्टि से प्रवृत्ति को निवृत्ति पूर्वाभ्यास है। अपितु आचार शास्त्रियों की दृष्टि में जिस प्रकार निवृत्ति भी प्रवृत्ति की ही परिधि में है, उसी प्रकार गीता की अध्यात्म-परिधि में निवृत्ति भी प्रवृत्ति—विशिष्ट होकर ही सफल एवं सद्यः फलदायिनी है। गीता की यह विशेषता उसे कर्मयोग विज्ञान बनाती है एवं यह तथ्य प्रदान करती है कि गीताकार ने वहां वस्तुतः कर्मयोग को—निष्काम कर्मयोग अथवा प्रवृत्ति को संन्यास अथवा निवृत्ति से श्रेष्ठ एवं श्रेयस्कर माना है।[५]

जिस प्रकार, भक्तिकालीन एवं रीतिकालीन अतिशयता के प्रति बहुउद्देशीय प्रतिक्रिया करने वाले आवश्यकतानुभूति से परिचालित कतिपय पूर्वोक्त आधुनिक कवियों ने गीता-आस्था के वातावरण में प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया है, उसी प्रकार दिनकर भी वैसे ही वातावरण में प्रवृत्ति प्रोत्साहन करते कुरुक्षेत्र के सप्तम सर्ग में समक्ष होते हैं।

किंतु दिनकर का यह विवेचन अपेक्षाकृत अनुवादात्मक पद्धति पर, गीता का अनुकरण है। कुरुक्षेत्र की इस विशेषता ने ही बहुत कुछ भदन्त आनन्द कौशल्यायन को इस अभिव्यक्ति के लिए बाध्य किया होगा कि कुरुक्षेत्र नए युग की नई गीता है। तब कवि का यह विवेचन कोई कोरा अनुकरण नहीं है। प्रतिभादीप्त दिनकर की प्रवृत्ति रूक्ष अनुकरण का अनुसरण साधारणतः स्यात् ही करती है। न्यूनाधिक अनूदित से दीखते अंश वस्तुतः अधिकांश में

---

५. गीता रहस्य—लोकमान्य तिलक, पृ० ४२६ ; १९३५।

अलङ्कृत, उपमा दृष्टान्त-पुष्ट एवं कल्पना कलित हैं। प्राय सर्वत्र चिन्तन-विवेचन की कवित्वमयता चित्ताकर्षक है। परिणामत उनका वातावरण नवीनता का आस्वाद प्रदान करने में समर्थ है। यह नवीनता द्विविध है। कथित विवेचन का कृष्णार्जुन मध्य सतान न होकर भीष्म-युधिष्ठिर बीच विस्तार होना नवीनता का दूसरा तथ्य है। ऐसे विवेचन युद्धोपरान्त भी अवसरोचित ही थे। यह महाभारतकार की दृष्टि से कभी ओझल नहीं हुआ। अत कुरुक्षेत्र के उपसहार पर, प्रवृत्ति-निवृत्ति वार्ता का विस्तार कर दिनकर ने न तो किसी औचित्य का ही अतिक्रमण किया और न किसी अस्वाभाविकता का ही सृजन। संहारोपरान्त सृजन-कार्य की आवश्यकता अतिशय थी। वस्तुत, समयों के निरासक्त भाव से निर्माण प्रवृत्ति-युक्त होने की आवश्यकता—उपादेयता और भी होती है, महत्व और ही होता है।

कुरुक्षेत्र की ये पंक्तियां प्रवृत्ति-निवृत्ति विचार वाहिनी हैं

धर्मराज सन्यास खोजना
कायरता है मन की,
है सच्चा मनुजत्व ग्रन्थियां
सुलझाना जीवन की। पृष्ठ ११८

मनुष्य को स्वार्थ त्याग कर भी परमार्थ सेवन करना चाहिए।[६] विश्वार्थ चरण-चिह्न छोड़ना मानव कर्तव्य है। और स्यात् साधारणत वनाग्रही सन्यास जीवन में आत्म-सुख भी नहीं। अत उपर्युक्त 'स्यात्' पद का प्रयोग महत्वपूर्ण है।

गुप्तजी को भी इस सन्यास में ऐसा ही सन्देह है। ऐसे सन्यास को मन की कायरता मान कर दिनकरजी ने सन्यासाकांक्षी की स्वार्थमयता की प्रकारान्तर से कटु आलोचना की है —

धर्मराज क्या यती भागता
कभी गेह या वन से?
सदा भागता फिरता है वह
एक मात्र जीवन से।—कुरुक्षेत्र पृष्ठ १२२

हतोत्साह, परिश्रान्त, प्रतिमा पराभूत पलायनवादियों की सन्यासभावना में आसक्ति की दुर्गन्ध से मानो कवि के नासिकारन्ध्र आकुल हो रहे हैं। वह उनके सन्यास को पलायन

---

६ हिडोनिष्ट तो परमार्थ प्रेम में भी स्वार्थ-पोषण पाते हैं। "आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति" उपनिषद् (अपनी आत्मा की कामना के लिए ही जगत में सभी वस्तुएं प्रिय लगती हैं।

मानता है और उनके भ्रामक, भयानक प्रेरक मनोभाव की भर्त्सना अधोद्धृत में इस प्रकार करता है :—

भाग खड़ा होता है जीवन से
स्यात् सोच यह मन में
सुख का अक्षय कोष कहीं
प्रक्षिप्त पड़ा है वन में।—कुरुक्षेत्र, पृष्ठ १२४

यह निवृत्ति है ग्लानि, पलायन का यह कुत्सित क्रम है,
निःश्रेयस् यह अमित, पराजित, विजित बुद्धि का भ्रम है।—कुरुक्षेत्र पृ० १२४

गीता के कृष्ण ने अर्जुन को बुद्धि के इस भ्रम से सावधान कर दिया था।

क्रिया-धर्म को छोड़ मनुज कैसे निज सुख पाएगा ?
कर्म रहेगा साथ, भाग वह जहां कहीं जाएगा।—कुरुक्षेत्र पृ० १२७
ग्रहण कर रहे जिसे आज तुम निर्वदाकुल मन से,
कर्म-न्यास वह तुम्हें दूर ले जाएगा जीवन से।

ऐसे संन्यास-प्रचार वस्तुतः पुरुषार्थ-शक्ति के उमंग-उत्साह पर तुषारोपल पात करनेवाले भयानक हिमशैल हैं। इनका विरोध और इनकी भर्त्सना होनी ही चाहिए। जीवन और प्रगति का प्रतिगामी वह संन्यास त्याज्य है। यह निवृत्ति घातक है। क्रियाहीन प्राणी ता काया पोषण में भी असमर्थ है।

अनिवार्य आवश्यकताओं की अप्रतिहत प्रेरणा से ही, प्रेरित होकर मानव के वपु-मानस पुरुषार्थविज्ञान-विधान करते हैं। प्रत्यक्ष के इस यथार्थ की अवज्ञा असंभव है। जीवन-विकास के लिए कर्तृत्व-चिंतन, वाणी-बाहों के सामंजस्य की अपेक्षा है। तद्गत द्विधाहीनता जीवनोपकारी है।

सन्यास के काल-क्रम से आडम्बराच्छादित, विकृत अभीष्ट की कविकृत यह व्यावहारिक व्याख्या गीता के उस प्रवचन के अनुकूल है जिसमें निवृत्ति के लिए—कर्म-त्याग के लिए—निष्काम कर्म की अपेक्षा है :—

केवल ज्ञानमयी निवृत्ति से
द्विधा न मिट सकती है,
जग छोड़ देने से मन की
तृषा न घट सकती है।

और ईशावास्योपनिषद् के मंत्र दो के उपर्युक्त इस शंकर भाष्य की ओर प्रतिक्रियात्मक इंगित है —

न जीवते मरणे वा—इति संन्यासशासनात्।

विद्‌रार्थ कर्म निरत होने में, प्रवृत्ति आश्रयण कर विश्व-वेदना में आत्म वेदना अनुभव करने में जो तृप्ति है, जो सुख है वह श्लाघ्य है, आकांक्ष्य ही नहीं बहुत कुछ अनिर्वचनीय भी है। निवृत्तिमार्गियों के अनुपलब्ध काम्य से वह ऊपर है और उनके लिए दुर्लभ है। ऐसे ही तर्कात्मक-काव्यात्मक विवेचन से दिनकर ने प्रवृत्ति की प्रतिष्ठा निवृत्ति के ऊपर की है। प्रवृत्ति को पूज्य-पुरस्कारक पाया है एवं निवृत्ति को त्याज्य—संहारक।

दिनकर के भीष्म इसी विचार-भूमि की प्रेरणा से युधिष्ठिर को स्वधर्म पालन के लिए, राजधर्म के अनुसरण का उपदेश इस प्रकार देते हैं —

सिंहासन का भाव छीनकर
दो मत निर्जन वन को
पहचानो निज कर्म युधिष्ठिर
कड़ा करो कुछ मन को।

कुरुक्षेत्र के प्रवृत्ति प्रोत्साहक उक्त अंशों के, यशोधरा की एतदाशयी अधोद्धृत समानान्तर अभीष्ट-गर्भित पंक्तियों के साथ, एकत्र अध्ययन से यह प्रत्यक्ष होता है कि निर्माण प्रेमी, राष्ट्रसेवी, विश्वकल्याणकामी हिन्दी के आधुनिक मूर्धन्य कवियों में विपुल विचार-साम्य है।

जिस प्रकार पराधीन भारत मानवोचित न्याय के लिए, सुख शान्ति के लिए, कृतसंकल्प प्रयत्नशील रहा, उसी प्रकार द्वितीय महायुद्धोपरान्त विश्व मानवोचित न्याय एवं शान्ति-सुख के लिए—युद्धावरोध एवं युद्ध-विनाश के लिए बद्धपरिकर हो प्रवृत्ति पथी हो रहा है।

दिनकर का कुरुक्षेत्र, इस प्रकरण में यह सोचने को विवश करता है,

निज तप रखो चुरा निज हित,
बोलो क्या न्याय यही है?
क्या समष्टि-हित मोक्ष दान का
उचित उपाय यही है।—कुरुक्षेत्र

आचार्य पद्मसम्भव—तिब्बत में बौद्धधर्म के संदेशवाहक

ऽछिमेद् रिग्ऽजिन लामा

पद्मसंभव के जन्म के संबंध में तिब्बती ग्रंथों में कई प्रकार की कथाएँ प्रचलित हैं। भगवान बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात् मगध के राजा देवपाल के समय ओड्डियान देश में राजा इयलील धर्मराज का शासन था। वह राजा विद्या-बुद्धि में श्रेष्ठ था। उसके यहां जिस पुत्र ने जन्म लिया, वह सुलक्षणों से युक्त था, उसके नेत्र पद्म के समान विकसित थे। पुत्र के जन्म के समय राजा ने प्रसन्नता के कारण लोगों को भोजन करवाया था। उस समय विभिन्न ब्राह्मणों और ज्योतिषियों ने बच्चे के संबंध में भिन्न-भिन्न मत व्यक्त किए। ज्योतिषियों के मत एक दूसरे से मिलते नहीं थे। उन लोगों के मत इस प्रकार थे :—

१—कुछ ज्योतिषियों ने कहा कि यह किसी देश का राजा बनेगा।

२—कुछ ज्योतिषियों ने बतलाया कि बड़ा होने पर यह श्मशान में जा कर साधना करेगा, फलस्वरूप इसके वंश की प्रतिष्ठा नष्ट हो जाएगी।

परन्तु अन्त में सबने यह मत व्यक्त किया कि इसको कोई भी पराजित नहीं कर सकेगा, यह अजेय है। यह बालक सभी पर विजय प्राप्त करेगा। ठीक उसी समय कहीं से घूमता हुआ एक योगी वहां आ पहुंचा, उससे पूछा गया तो उसने बतलाया कि यह बालक भविष्य में तंत्राचार्य होगा, क्योंकि इसके शरीर पर "पद्मकुल" के लक्षण हैं। इसलिए अमिताभ बुद्ध इसे आशीर्वाद दे रहे हैं। इसका नाम भी "पद्म-अ-ब-सी"[१] रख दो। जैसी कि भविष्यवाणी की गई थी, ठीक उसी के अनुकूल बालक बड़ा होने के पश्चात् कुछ समय के भीतर कला, साहित्य, दर्शन, योग और आयुर्वेद का प्रकाण्ड पंडित हुआ।

उसके पश्चात् पद्मसंभव ने विनयधर की शरण ली तथा पंच-दीक्षाएं ली। अभिधर्म तथा सूत्र के बहुत सारे ग्रंथों का अध्ययन किया। तंत्राचार्य शान्तिरूप से चर्यायोग और क्रियायोग इत्यादि का मण्डल-अभिषेक लिया। वणिक् पुत्र सुखदेव को द्वितीय अवलोकितेश्वर माना जाता है। उस समय सुखधारी नामक एक वेश्या थी, जो स्वयं साधना के बल पर भगवान् वज्रधर के उपदेशों को श्रवण कर सकती थी। इन्हीं दोनों साधकों को पद्मसंभव ने अपना

---

१. किसी-किसी तिब्बती पुस्तक में अब भी पद्मसंभव के नाम के लिए पद्म-अ-ब-सो लिखा मिलता है। जो केवल उच्चरण-दोष के कारण हुआ है, क्योंकि तिब्बती में पद्मसंभव शब्द के लिए ध्वनियां हैं।

गुरु बनाया। गुरु बनाने के पश्चात् पद्मसम्भव ने उन लोगों से उपदेश सुने। गुरु के उपदेशानुसार उन्होंने एक स्थान पर जप, उप-जप, साधना तथा महासाधना की। परन्तु साधना करते समय उनको बहुत से भयानक रूप तथा शब्द सुनाई पड़े। वन प्रान्त में आग लग जाने के कारण उनके रहने का स्थान भी जल कर राख हो गया। पद्मसम्भव ने इस प्रकार की कठिनाइयों और आपत्तियों का दृढ़तापूर्वक सामना किया। अंत में उनको विद्या मंत्र की सिद्धि प्राप्त हुई। उसके पश्चात् स्वप्न में उन्होंने तथागत, अमिताभ और आदि बुद्ध तथा बोधिसत्वों के दर्शन किए।

इस प्रकार साधना के उपरान्त सिद्धि मिलने के बाद पद्मसम्भव ने विभिन्न देवी देवताओं के दर्शन किए तथा उनको अलौकिक शक्ति भी मिली। राजवंश परम्परा के अनुसार लोगों ने उनसे राज्य का कार्य करने के लिए कहा, परन्तु आपसी वैमनस्य के कारण उनको राजा बना रहना अच्छा नहीं लगा, इसलिए पद्मसम्भव वहां से चले गए तथा नगर से बाहर इधर-उधर श्मशान तथा निर्जन स्थान में दिन काटने लगे। क्योंकि उनके भाइ ने मंत्रियों के कहने पर उनकी हत्या का षड्यन्त्र रचा था, लेकिन पद्मसंभव की हत्या करने में हत्यारे असफल रहे। पद्मसम्भव की साधना और शक्ति ने सभी प्रकार के आघातों को विफल कर दिया।

इस प्रकार जब पद्मसम्भव श्मशान में घूमने और रहने लगे तब वहां के भूत-प्रेतों ने मिल कर पद्मसम्भव के शत्रुओं का विनाश कर दिया[२] तथा सर्प-दंशन के कारण राजा[३] की भी मृत्यु हो गई।

आचार्य पद्मसम्भव अब निश्चिंत हो कर श्मशान में रहने लगे और उन्होंने अपनी साधना भी जारी रखी फलस्वरूप देवी, डाकिनी तथा अन्य देवी देवताओं को अपने वश में कर लिया। जप के बल पर क्रोधराज त्रिधातुविजय पर विजय प्राप्त कर ली। इसके बाद वह महाकाल सप्तदेवियों, यक्षों तथा नागों से सेवक का काम लेने लगे।

इस प्रकार दिन-प्रतिदिन पद्मसम्भव साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ते गए तथा उनका विभिन्न प्रकार की सिद्धियों पर अधिकार होता गया। इधर पद्मसम्भव को तंत्र तथा चर्या पर विजय मिलती गई, उधर तिब्बत में एक ऐसे तंत्राचार्य की आवश्यकता थी जो तत्कालीन तिब्बत के "बोन" धर्म में प्रचलित अंधविश्वासों तथा अलौकिक शक्तियों पर विजय प्राप्त कर नए उदार

---

२ तिब्बती कथाओं तथा परम्परा में इस प्रकार के काल्पनिक अथवा अलौकिक प्रसंग मिलते हैं।

[३] पद्मसम्भव के भाई।

धर्म का प्रसार और प्रचार करने में सहायता कर सके। भारत के प्रसिद्ध महान् पंडित शान्तिरक्षित उस समय तिब्बत में बौद्ध धर्म का प्रसार और प्रचार करने के लिए सम्राट् ख्रि-सोङ् ल्देउ ब्चन् (७४०-७८६ ई०) के समय तिब्बत गए थे, लेकिन उनको वहां की डाकिनियों, भूतों, प्रेतों ने सफलता प्राप्त करने में बाधा पहुंचाई। वहां के भूत-प्रेतों ने किसी भी शुभ कार्य को सुसम्पन्न नहीं होने दिया। पंडित शान्तिरक्षित ने इस प्रकार की शक्तियों पर विजय प्राप्त करने के लिए भारत से पद्मसंभव को बुलवाना चाहा, फलस्वरूप उन्होंने राजा से कहा कि इस समय भारत में पद्मसंभव नामक एक महान् आचार्य है, उसने तंत्र की सभी सिद्धियां अर्जित की हैं। आप यदि निमंत्रण देकर उसको तिब्बत बुलवा सकें तो मंदिर निर्माण में जो बाधाएं उपस्थित हो रही हैं, वे सब दूर हो जाएंगी।

सम्राट् ख्रि-स्रोङ् ल्देउ-ब्चन् ने शान्तिरक्षित के परामर्श को सहर्ष स्वीकार कर लिया तथा उन्होंने पद्मसंभव को बुलवाने के लिए भारत की ओर दूतों को रवाना किया। पद्मसंभव के पास जब दूत पहुंचे तब पद्मसंभव को कुछ प्रसन्नता हुई, क्योंकि वह इस प्रकार के अवसर के लिए ही बहुत दिनों से प्रतीक्षा कर रहे थे।

ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर कहा जाता है कि पद्मसंभव ने बौद्धगया से शिशिर ऋतु में (लगभग ७४६ ई० में) तिब्बत की ओर प्रस्थान किया था। नाना कठिनाइयों को पार करते हुए धर्म प्रचार के लिए पद्मसंभव वसंत ऋतु में तिब्बत पहुचे थे। तिब्बत जा कर उन्होंने कई वर्ष वहीं पर बिताए। उनके जीवन से संबंधित बहुत सारी बातें अतिशयोक्तिपूर्ण लगती हैं। कुछ लोगों के मतानुसार पद्मसंभव ने तिब्बत में १११ वर्ष बिताए। जबतक सम्ये महाविहार का निर्माण होता रहा तबतक उन्होंने प्रत्येक बाधा-विघ्न को दूर हटाया। उस समय तिब्बत में "बोन" धर्म प्रचलित था, उसी का बोलबाला था, लेकिन पद्मसंभव के प्रयत्न द्वारा वहां नए धर्म का विकास हुआ।

जब पद्मसंभव तिब्बत पहुंचे, उस समय वहां की जनता प्रचीन धर्म "बोन" को किसी भी मूल्य पर त्यागने के लिए तैयार नहीं थी, क्योंकि जब किसी प्रकार के नए धर्म के प्रसार की चेष्टा कोई भी आचार्य करता तब नाना प्रकार की दैवी या आकस्मिक घटनाएं और विपत्तियां आ खड़ी होती थीं फलस्वरूप जनता को कष्ट होता था और प्राचीन विश्वासों का अंधाधुन्ध अनुसरण करने वाली तिब्बती जनता यह समझने लगती थी कि यह सब देव-देवियों की अप्रसन्नता के कारण हो रहा है और इस प्रकार के अंधविश्वास के कारण वह फिर नए धर्म का विरोध करने के लिए तत्पर हो जाती थी। इसी कारण कोई भी आचार्य वहां पर धर्म प्रसार करने में सफल नहीं हो सका। परन्तु पद्मसंभव ने साधना के बल पर कुछ

अलौकिक शक्तियां प्राप्त कर ली थीं, जिनके सहारे उनको इस प्रकार की दैवी शक्तियों और घटनाओं पर आशातीत सफलता प्राप्त हुई। उन्होंने विभिन्न प्रकार की आपत्तियों से वहां के लोगों तथा मठ निर्माणकर्ताओं की रक्षा की, जिसका वर्णन नीचे दिया जा रहा है।

तिब्बत के सम्राट् ठ्रि-स्रोङ् ल्देउ-च्चन् ने तिब्बत में एक महाविहार बनवाने की इच्छा व्यक्त की और उसके निर्माण के लिए काफी कोशिश भी की, परन्तु दुर्भाग्यवश उसके पथ में नाना प्रकार की कठिनाइयां आती गईं। तिब्बत के भूमिपालों, भूत प्रेतों की वजह से महाविहार के निर्माण कार्य में हमेशा बाधा ही उपस्थित होती रहती थी। पद्मसम्भव ही उस समय एकमात्र ऐसे तन्त्राचार्य थे जो इस प्रकार की बाधाओं पर विजय प्राप्त कर सकते थे। अतः सम्राट् ने शान्तिरक्षित के आग्रह पर महाविहार का कार्य सुचारु ढंग से सम्पन्न करने लिए पद्मसम्भव को भारत से बुलवाया।

तिब्बत की ओर प्रस्थान करते समय पद्मसम्भव ने तीन महीने नेपाल में बिता दिए। जब वह तिब्बत की सीमा पर पहुँच रहे थे, उस समय वहां के स्थानीय देवी-देवताओं ने उन्हें वहां जाने से रोका परन्तु पद्मसम्भव की शक्ति के सामने उन सबको मुह की खानी पड़ी। पद्मसम्भव ने उन सबको अपने वश में कर लिया और उनकी हरकतों को असफल बना दिया।

इस प्रकार पद्मसम्भव विभिन्न बाधाओं पर विजय प्राप्त करते हुए तिब्बत की ओर बढ़ते गए। जब वे तिब्बत के स्तोद् लुङ् नामक स्थान पर पहुँचे जो ल्हासा से लगभग २० मील है तब तिब्बत-सम्राट् ने अपने मन्त्रियों को पद्मसम्भव के सम्मान में स्वर्ण और हीरे जवाहरात के साथ वहां पर भेज दिया। उन लोगों के साथ एक सुसज्जित घोड़ा था जो विशेष ढंग से सजाया गया था। सम्राट के लोग जब पद्मसम्भव से मिले उस समय वे सभी जलाभाव के कारण पीड़ित थे। वहां पर पानी का अभाव था और पानी मिलने की कहीं आशा भी नहीं दिखाई पड़ती थी। पद्मसम्भव को जब उनकी कठिनाइयों का पता चला तब उन्होंने एक लाठी से चट्टान पर प्रहार किया, फलस्वरूप चट्टान में छेद हो गया और वहां से पानी निकलने लगा। वहां के जितने पीड़ित जीव जन्तु थे सबने अपनी प्यास बुझाई[४]। इसी कारण उस स्थान का नाम स्तोद्-लुङशोङ्-पल्ह-छु पड़ा। वहां से लोग नृत्य-वाद्य और नाना प्रकार की उत्साहपूर्ण ध्वनि करते हुए पद्मसम्भव को राज दरबार तक ले गए।

---

४. दि टीबेटन बुक आफ द ग्रेट लिबरेशन डब्ल्यू० वाई० ई० वेन्तज पृष्ठ १८४।

जिस समय शान्तिरक्षित तिब्बत गए थे, उस समय उन्होंने पहले सम्राट् को प्रणाम किया था, इसलिए सम्राट् ने सोचा कि पद्मसंभव भी पहले उनको प्रणाम करेंगे लेकिन पद्मसंभव जब सम्राट् से मिले तब उन्होंने उनको प्रणाम नहीं किया। राज के मन की बात पद्मसंभव जान गए इसलिए उन्होंने राजा से कहा 'हे राजन्! तुमने तो अपनी मां के गर्भ से जन्म लिया है। मैं पद्मज हूँ, और मैं द्वितीय बुद्ध हूँ। इसलिए तुम्हारा कर्तव्य है कि तुम मुझको प्रणाम करो।' और तुरत उन्होंने अपनी यौगिक साधना का प्रदर्शन करते हुए कहा कि 'मैं तुम लोगों के कल्याण के लिए आया हूँ। इसलिए तुम लोगों को चाहिए कि मेरे सामने शिर झुकाओ।' और पद्मसंभव ने यौगिक प्रणाली से अपनी अंगुली ऊपर की ओर उठाई, थोड़ी ही देर में उसमें से अग्नि निकलने लगी, जिससे राजा के वस्त्र जल गए, बड़े जोर की बिजली कौंधी तथा भूकम्प आ गया।५ इसके बाद राजा और मंत्रियों ने पद्मसंभव की शक्ति को पहचान लिया तथा सबने उनको प्रणाम किया।

सम्ये महाविहार की स्थापना

सम्ये महाविहार की स्थापना के पूर्व तिब्बत में कोई भी विहार नहीं बना था, क्योंकि निर्माण के समय नाना प्रकार की बाधाएं उपस्थित हो जाया करती थीं। इसके पहले कोई भी तिब्बती भिक्षु नहीं बना था। वैसे वहां पर बौद्ध धर्म के प्रचारक बहुत पहले से ही पहुँच चुके थे। लेकिन किसी ने कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं किया, क्योंकि वहां के स्थानीय देव-देवी उनके पथ में बाधाएं खड़ी कर देते थे। राजा के मतानुसार ब्रह्मपुत्र के उत्तर और ल्हासा के दक्षिण-पूर्व में एक मठ के निर्माण के लिए ब्रग्-द्मर्-म्ग्रिन्-ब्सुउ् नामक भूमि महाविहार के निर्माण के लिए चुनी गई। यह महाविहार महाराजा धर्मपाल द्वारा निर्मित औदन्तपुरी के नमूने पर बनाया गया। इस महाविहार का आरंभ भूमि-व्याघ्र वर्ष के आठवें महीने के आठवें दिन६ आरंभ किया गया था। उस दिन वृहस्पतिवार था, अनुराधा नक्षत्र था, उसी दिन उस महाविहार की स्थापना हुई थी। जिस समय सम्ये महाविहार की स्थापना की गई उस समय तिब्बत में नाना प्रकार के शुभ अनुष्ठान किए गए तथा उत्सव मनाए गए। सारे भोट देश में सम्ये महाविहार के समान कोई भी महाविहार नहीं बनवाया गया। उस

---

५. वही : पृष्ठ १८४।

६. वही—पृष्ठ १८४-८५। इस प्रकार के अनेक अलौकि चमत्कार पद्मसंभव ने दिखलाए।

महाविहार में एक प्रधान देवालय बनवाया गया। यह महाविहार तिमंजिला है। ऊपर की मंजिल पर चारों कोणों पर चार छोटे-छोटे मंदिर हैं, जिसे तिब्बती में ल्होग् कहते हैं। मंदिर के चारों ओर चार महाद्वीप अर्थात् गिलङ् बुशि, आठ उपद्वीप अर्थात् गिलङ्-फन्-बर्गयद् ऊपर यक्ष, नीचे यक्ष और ङछ्-मङ् के तु गिलङ्, तथा विशुद्ध स्नान गृह बनवाए गए। बाहर के चारों दरवाजों पर शक्ति द्वीप तथा आठ नाथों का मंदिर है। उसके साथ ही महाकाल देव का मंदिर भी है। चारों द्वारों पर बहुत बड़े-बड़े स्तूप हैं। तथा प्रकाश ज्वाला स्तूप को ले कर तीस स्तूप हैं। इन विहारों और स्तूपों के चारों ओर एक बहुत बड़ी चहारदीवारी है जो पूरे महाविहार की सुरक्षा करती है। चहारदीवारी का रंग पीला है तथा उस पर विभिन्न प्रकार के चित्र बने हुए हैं।

इस महाविहार के निर्माण में साठ हजार लोगों ने काम किया था। महाविहार के निर्माण के समय प्राय वहां के देव-देवी रात में पूरे काम को नष्ट कर दिया करते थे, जो काम दिन में लोग कर के जाते थे, उसे वे सब रात में गिरा दिया करते थे। इस प्रकार की हरकत को रोकने के लिए सम्राट् ने पद्मसंभव से अनुरोध किया। सम्राट् ने पद्मसंभव से कहा कि इन सबको आप वश में कीजिए नहीं तो महाविहार का निर्माण करना असंभव है। तब आचार्य पद्मसंभव ने वहां की दैवी शक्तियों को अपने वश में कर लिया। उस समय ब्रह्मा और इन्द्र भी उस महाविहार के निर्माण के लिए आ गए थे। अन्य चार राजाओं ने उस मंदिर के निर्माण के समय अन्य सभी प्रकार की व्यवस्था की। अत पितृहेतु, मातृहेतु सभी देवी-देवताओं ने महाविहार के निर्माण के लिए रात-दिन काम करना आरंभ कर दिया। रात में महाविहार का काम देवी-देवताओं द्वारा किया जाता था जो दिन में मनुष्यों द्वारा किए गए काम का दुगुना होता था।

इस महाविहार के निर्माण के पश्चात् बहुत से लोग बौद्ध धर्म में दीक्षित हो गए। महाविहार के निर्माण के पश्चात् सर्वप्रथम सात व्यक्तियों को भिक्षु बनाया गया। उसके बाद दिनोदिन भिक्षुओं की संख्या में वृद्धि होने लगी। तिब्बत में जब यह महाविहार बन गया तब सम्राट् का उत्साह बढ़ा और उसने भारत के साहोर, काश्मीर, मगध आदि स्थानों से महापंडितों को निमंत्रित करके बौद्ध धर्म का प्रसार और प्रचार करवाया, साथ ही उन धार्मिक व्यक्तियों के भारतीय धर्म ग्रंथों का तिब्बती भाषा में अनुवाद किया तब बौद्ध धर्म तिब्बती जनता के लिए कठिन नहीं रह गया, वे लोग अपनी भाषा में इस पवित्र धर्म को पाकर धन्य धन्य हो गए। लेकिन तिब्बती जनता के लिए संस्कृत तथा भारत के अन्य मूल ग्रंथों का महत्व सबसे अधिक था, क्योंकि वे लोग संस्कृत और भारतीय साहित्य को पवित्र मानते थे और

आज भी मानते हैं। इस प्रकार आचार्यों के सफल प्रयास और कठिन परिश्रम के उपरान्त तिब्बत में बौद्ध धर्म का प्रचार और प्रसार बढ़ गया। महायान तथा अन्य भारतीय साहित्य का विशेषरूप से अनुवाद कार्य इसी समय हुआ था।

दीक्षितों में बहुत से लोगों को नाना प्रकार की सिद्धियां मिलीं। इस प्रकार से किसी किसी साधक को एक सौ आठ सिद्धि भी मिली। आचार्य पद्मसंभव ने तिब्बत में सर्वप्रथम महाविहार की स्थापना कर के भारतीय साधकों और पंड़ितों का मार्ग उन्मुक्त कर दिया। इसके बाद से भारतीय पंडितों का तिब्बत आना-जाना आरंभ हो गया और उसके बाद किसी भी साधक को इस प्रकार की बाधा का सामना नहीं करना पड़ा।

राजा ख्रि-स्रोङ्-ल्देस ब्चुन् के समय अनुवादक कस्य-कोर वैरोचन ने जो तिब्बती थे सर्वप्रथम अनुवाद का कार्य आरंभ किया था। उन्होंने आर्य देश के भगवान् बुद्ध के वचनों का अनुवाद तिब्बती भाषा में प्रस्तुत किया। साहोर देश के महापंडित बोधिसत्व शान्तिरक्षित ने तिब्बत जा कर बुद्ध के उपदेशों, आदेशों और धर्मों की व्याख्या की तथा साथ ही उसका अनुवाद भी प्रस्तुत किया पद्मसंभव ने भी तांत्रिक साधनाओं का उपदेश दिया। उनके उपदेशों को उस समय वैरोचन स्न-नम्ल्ल-ब्चुन् ने लिपिबद्ध किया था। और फिर तिब्बती भाषा में उसका अनुवाद किया था। भारतीय महापंडित विमल मित्र ने जो उपदेश दिए उनका अनुवाद चोग्-रो क्लडी-र्गयल-म्छन् और सात भाषाओं के ज्ञाता ग्नुब् के अनुवादक सङ्-र्गयस् ये शेस् ने किया। उन्होंने उस समय ग्नुब्-नम्-मुखडी सिङ् पो, तथा ज्ञानकुमार, रिन्-छेन्-म्छोग् आदि ने बहुत से तांत्रिक ग्रंथों का अनुवाद किया।

उसके बाद से अनुवाद कार्य होता रहा और कागुर तथा तांगयुर का अनुवाद पूर्ण हो गया जो आजकल तिब्बती त्रिपिटक के नाम से प्रसिद्ध है, इसमें स्तोत्र, तंत्र, प्रज्ञापारमिता, माध्यमिक-सूत्र, अभिधर्म, विनय, जातक, तर्क, साहित्य, व्याकरण, चिकित्सा-शास्त्र इत्यादि ग्रंथ सम्मिलित हैं। यह पूर्ण साहित्य और धर्म २२५ पोथियों तथा ३७२३ ग्रंथों में संगृहीत है। इसमें कुछ मूल ग्रंथ भी हैं। आठवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक इस प्रकार के ग्रंथों के अनुवाद तिब्बती में होते रहे। उसके बाद धीरे-धीरे समूये महाविहार के अनुकरण पर बहुत से महाविहारों की स्थापना की गई।

आचार्य पद्मसंभव तिब्बत में समूये महाविहार की स्थापना के पश्चात् जब तिब्बत छोड़ने लगे तब उन्होंने सम्राट् से कहा था कि अब राक्षसद्वीप के राक्षसों को वश में करने का समय आ गया है। यदि इस महान् शक्ति को पद्मसंभव रोकने में असमर्थ रहा तो ये सब मानव जाति का विनाश कर डालेंगे। यह देश उड्डीयान देश से दूर नहीं था। वहां पांच बड़े

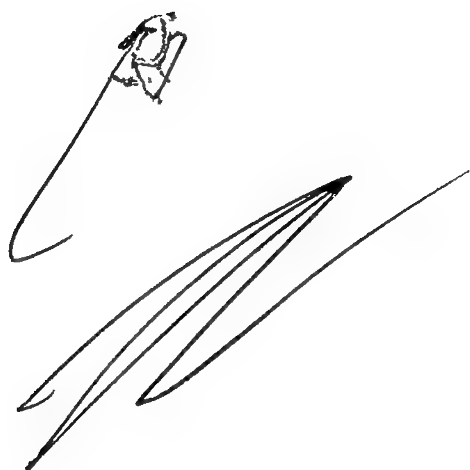
नगर और पांच सौ गांव थे। पद्मसम्भव का यह अभिप्राय नहीं था कि राक्षसों का समूल विनाश कर दिया जाय। वह चाहते थे कि उन राक्षसों को भी बौद्ध धर्म की दीक्षा दी जाए।

तिब्बत छोड़ते समय पद्मसम्भव ने कहा था कि अवलोकितेश्वर द्वारा ही चरम सिद्धि की प्राप्ति होगी। सम्राट् मंत्री तथा अन्य प्रजा के लोग घोड़े पर चढ़ कर पद्मसम्भव को विदा करने के लिए गुङ्-थङ्-स नामक स्थान तक गए तथा वहां पर एक रात रहे। प्रातःकाल पद्मसम्भव ने लोगों को अंतिम उपदेश और आशीर्वाद दिए और सम्राट् ने उनको नमस्कार कर विदा किया।

उस समय आकाश में हो रहे वाद्य नृत्य और गीत से दिशाएं गूंज उठीं। उस समय कहीं से इन्द्रधनुषी नील अश्व आया साथ में बहुत से देव-देवी थे, वे लोग पद्मसम्भव को साथ लेकर राक्षस द्वीप की ओर चले गए।

इस प्रकार पद्मसम्भव के प्रभाव से ही तिब्बत में बौद्ध धर्म का विकास हो सका और तिब्बत की जनता को एक नई दिशा मिली। उनके जीवन में नई रोशनी आई। लोगों ने प्राचीन मान्यताओं पर विश्वास करना धीरे धीरे छोड़ कर नया रास्ता अपनाया। तिब्बती जनता के जीवन में तथा उनके सामाजिक और धार्मिक क्रिया कर्मों में महान् परिवर्तन हुआ।







नववमन

शिल्पी—य० कृ० शुक्ल

ग्रंथ समीक्षा

पेण्टिग्ज बाय य० क० शुक्ल (यज्ञेश्वर शुक्ल के चित्र)—प्रकाशक—चित्रकार, बनस्थली विद्यापीठ, राजस्थान। सात चित्रों का संग्रह, मूल्य ६) रु०।

यज्ञेश्वर शुक्ल ख्यातनामा चित्रकार हैं। लगभग पिछले ३५ वर्षों से उनकी कृतियाँ प्रदर्शित होती आ रही हैं और प्रशंसा प्राप्त करती आ रही हैं। उनके चित्रों के विषय सुस्पष्ट और वर्णन भाव प्रधान होते हैं। प्रस्तुत संग्रह में नाना रंगों के सात चित्रों की प्रतिकृतियाँ हैं : दानलीला, पनघट का दृश्य, प्रेमी हृदय, ग्राम कन्या, झूला, नववसंत, युगल (अजंता की अनुकृति)। वृक्षराजि, पर्वत प्रदेश में पत्थरों को फोड़कर निकलने वाली घास, वन्य फूलों का पार्श्व भूमि में वस्त्रों से सुसज्जित तथा आभरणों से अलंकृत गुर्जर वनिता किसान वधू है या मध्यम वर्गीय संभ्रांत वधू यह कहना कठिन होगा। पर उनमें स्त्रीसुलभ आकर्षण है जो दर्शक को अपनी ओर आकृष्ट करता है।

शुक्लजी ने अपनी कृतियों में एकाधिक शैलियों का प्रयोग किया है ; यह उस संग्रह के चित्रों से भी प्रमाणित होता है। नव वसंत चित्र में जो पत्रिका के प्रस्तुत अंक में भी दिया जा रहा है, चीनी रेखांकन पद्धति का उन्होंने कुशल प्रयोग किया है। उनके प्रकृति चित्रण पर इस शैली की छाप स्पष्ट लक्षित होती है।

आलोच्य संग्रह के प्रस्तावना-लेखक डा० खंडालवाला ने अपने वक्तव्य में ठीक ही कहा है कि शुक्ल जी आजकल की आधुनिक चित्र-भाषा के माध्यम का प्रयोग नहीं करते हैं, अतः जो चित्रकला की आधुनिकतम प्रवृत्तियों के प्रेमी है उनको शुक्ल जी के ये चित्र आकर्षक नहीं प्रतीत होंगे। शुक्ल जी प्राचीन परंपरा के अनुयायी हैं। उनके चित्र उन कला प्रेमियों को सहानुभूति प्राप्त कर सकेंगे जो कला के सुगम बोधगम्य रूपों से आनंद प्राप्त करना चाहते हैं।

हमारा विश्वास है कि यह लघु संग्रह लोकप्रिय होगा। मुद्रण सुन्दर हुआ है।

—दिनकर कौशिक

बाल साहित्य—लेखक रवीन्द्रनाथ ठाकुर, सम्पादक—लीला मजुमदार, क्षितीश राय, प्रकाशक—साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, पृष्ठ—२८७, मूल्य—छह रुपये।

प्रस्तुत पुस्तक रवीन्द्रनाथ ठाकुर—विरचित बाल-साहित्य की विविध रचनाओं का संकलन है। इन बालोपयोगी रचनाओं का मात्र देवनागरी लिप्यंतर दिया गया है। लिप्यन्तरकार हैं श्री युगजीत नवलपुरी। प्रारम्भ के सोलह पृष्ठों में 'कवि-कथा' शीर्षक से कवि की जीवनी हिन्दी भाषा में दी गई है तथा अंत में बंगला शब्दों के उच्चारणों की कुछ विशेषताएँ एव बंगला-व्याकरण संबंधी कुछ ज्ञातव्य बातें बोधगम्य रूप में हिन्दी में ही वर्णित हैं। संकलन में सत्तर रचनाएँ संगृहीत हैं ; पर इन रचनाओं के हिन्दी अनुवाद नहीं दिये गये हैं। कम-से

कम गद्य-रचनाओं के हिन्दी-अनुवाद तो देने ही चाहिए थे। हिन्दी-अनुवादों के अभाव में पुस्तक का उपादेयता का क्षेत्र संकुचित हो गया है। बंगला भाषी तथा बंगला-भाषा के जानकार ही इस पुस्तक का लाभ उठा सकते हैं। एक लिपि विस्तार की दृष्टि से यह प्रयत्न अवश्य स्तुत्य है। पुस्तक में दस गीत, सैंतीस कविताएँ, तीन पत्र, एक गद्य रचना, सात कहानियाँ, दो प्रहसन, दो तुकबंदी, तीन संस्मरण, एक रेखाचित्र, एक गीति-नाट्य, एक नाटक, एक अंश उपन्यास, और तीन निबन्ध संकलित हैं।

रामचरित मानस का तत्त्व दर्शन—लेखक डा० श्रीश कुमार, प्रकाशक—लोक चेतना प्रकाशन, जबलपुर, पृष्ठ—१९२, मूल्य—दस रुपये।

प्रस्तुत पुस्तक जबलपुर विश्वविद्यालय द्वारा पी एच० डी० की उपाधि हेतु स्वीकृत शोध-प्रबन्ध का किंचित परिवर्तित रूप है। 'प्राक्कथन' में लेखक ने लिखा है, "रूपाकृति, वाह्य-विधान, कथा-तन्त्र और शिल्प विधि की दृष्टि से तो मानस की बहुत आलोचना हुई, पर मानस के तत्त्व दर्शन का सांगोपांग व्यवस्थित आख्यान अभी भी अव्याख्यात है। आलोचकों ने अपने मन्तव्य पहले से स्थिर कर लिए और उन मन्तव्यों की पुष्टि के लिए, अनुकूल पंक्तियों के चयन में वे बाद में प्रवृत्त हुए।" इस संदर्भ में तुलसी-साहित्य पर हुए शोध-कार्य की संक्षिप्त चर्चा भी की गई है, यथा—फादर जे० एन० कारपेण्टर के शोध-प्रबन्ध 'दि थियालाजी आफ तुलसीदास' में मिशनरी दृष्टि की प्रधानता है। डा० बलदेव प्रसाद मिश्र का शोध प्रबन्ध तुलसी-दर्शन' व्यावहारिक और सामाजिक दृष्टिकोण से लिखा गया है। डा० माता प्रसाद गुप्त के शोध प्रबन्ध 'तुलसीदास' में अध्यात्म-दर्शन संबंधी सामग्री में विवेचन की अपेक्षा विवरण को प्रधानता है। डा० उदय भानु सिंह के डी० लिट्० का शोध-प्रबन्ध 'तुलसी दर्शन मीमांसा' अवश्य तुलसी विषयक दार्शनिक समीक्षा के अभाव की पूर्ति करता है, पर इसमें भी बहुत से विचार-बिन्दु छूट गए हैं। डा० रामदत्त भारद्वाज का शोध-प्रबन्ध 'दि फिलासफी आफ तुलसीदास' अभी अप्रकाशित ही है। इसमें संदेह नहीं, 'रामचरित मानस का तत्त्व-दर्शन' नामक प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध नये क्षेत्र का विस्तार से उद्‌घाटन करता है। शोधार्थी ने अछूते विषय का बड़ी गहराई से अध्ययन किया है। प्रबन्ध में ब्रह्म, माया, जीव, मोक्ष और मोक्ष-साधन पर मौलिक विचार व्यक्त किये गये हैं। ब्रह्म के अंतर्गत राम परम-ब्रह्म हैं, ब्रह्म वेदान्त-वेद्य है, ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप है, ब्रह्म स्वयं प्रकाश और स्वयं सिद्ध है, ब्रह्म एक अद्वैत और भेदातीत है, ब्रह्म अप्रमेय, अव्यक्त और अतीन्द्रिय है आदि की चर्चा है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध की प्रमुख विशेषता इस स्थापना में है कि तुलसी के राम स्वरूपतः सगुण नहीं अपितु निर्गुण हैं। यह कथन विचित्र होते हुए भी शोधार्थी की दृष्टि में तात्त्विक है। यही प्रस्तुत प्रबन्ध की मौलिक देन है। शोधार्थी ने प्रबन्ध में 'रामचरित मानस' से अनेक

उपर्युक्त उद्धरण प्रस्तुत किये हैं; पर उनकी व्याख्याएँ नहीं दी हैं। संपुष्टि के लिए यह आवश्यक था।

—महेन्द्र भटनागर

अतीत का अभिनवालोक—लेखक—प्रो० मायाप्रसाद त्रिपाठी। विश्वविद्यालय प्रकाशन, के० ४०।६ भैरवनाथ, वाराणसी द्वारा प्रकाशित। प्रथम संस्करण, १९६८। मूल्य तीन रुपए। पृष्ठ संख्या १३२।

पुस्तक का नाम—'अतीत का अभिनवालोक'—जितना आकर्षक है, उतना ही भ्रम उत्पन्न करने वाला भी है; क्योंकि इसके कई अर्थ हो सकते हैं। सामान्यतः इसके तीन अर्थ हो सकते हैं: पहले अर्थ में इसका तात्पर्य भारत के अतीत अर्थात् भारत की संस्कृति और उसके इतिहास के उस अंश से है जो वर्तमान जन-जीवन को आलोकित किए हुए है। इस तरह बदलते हुए वर्तमान युग में भी लोक-जीवन और परम्परा के बोध और उनकी अभिव्यक्तियों के नित नए रूपों की चर्चा इस शीर्षक के अन्तर्गत की जा सकती है। दूसरे अर्थ में भारत के "अतीत का अभिनवालोक" वर्तमान युग में जबकि हम अपने अतीत के गौरव, संस्कृति और परम्परा को काफी हद तक भूल गए हैं, सांस्कृतिक पुनरुत्थान के नारे और इस पुनरुत्थान की दिशा में किए जाने वाले प्रयासों और कार्यों का द्योतक हो सकता है। तीसरे अर्थ में वर्तमान वैज्ञानिक युग के आलोक में भारत के अतीत की—यानी उसकी संस्कृति और उसके इतिहास की चर्चा और व्याख्या की जा सकती है।

किन्तु तीनों अर्थों में से किसी भी एक अर्थ में सम्पूर्णतया पुस्तक की नामावली का उपयोग नहीं हुआ है यद्यपि तीसरा अर्थ ही पुस्तक के उद्देश्य के सबसे अधिक निकट है। स्वयं लेखक ने इस हेतु के संबंध में इस प्रकार लिखा है—"वैज्ञानिक त्रिपार्श्व में विश्लिष्ट···युग-युगान्तर के कुछ परम अभिराम एवं विस्मयावह सत्य तिमिरोन्मीलन की एक विशिष्ट यात्रा में 'कभी ऐसा हुआ था' के अभिनव तड़िदुन्मेष में नूतन प्रेरणा-स्फुरण जगाने के लिए···।" वैज्ञानिक विश्लेषण के साथ 'कभी ऐसा हुआ था' का बोध तीसरे अर्थ को पहले अर्थ से जोड़ देता है। किन्तु बात एक निष्क्रिय परम्परा-बोध से आगे नहीं जाती। वह अपने अतीत के प्रति हमारे आग्रह को और अधिक मजबूत बनाती है, भले ही संस्कृति और परम्परा के प्रवाह और उसकी गत्यात्मक दशाओं तथा उनको अभिव्यक्त करने वाले विभिन्न रूपों से उसे कोई मतलब नहीं। अपने अतीत के प्रति 'कभी ऐसा हुआ था' का विस्मय और उससे प्राप्त होने वाला संतोष पहले अर्थ को दूसरे अर्थ से भी सम्बद्ध कर देता है; क्योंकि अतीत के बोध के साथ ही उसके प्रति हमारा आग्रह इस वर्तमान में अतीत की पुनर्स्थापना अथवा पुनरुत्थान की भावना को जन्म देता है। किन्तु संस्कृति और परम्परा को नवजाग्रत करने एवं उसके संचार प्रसार के उद्देश्यों और प्रयासों से लेखक को कोई मतलब नहीं। इस तरह यह स्पष्ट

है कि पुस्तक का कथ्य क्या हो, इसकी कोई निश्चित रूप-रेखा लेखक के दिमाग में नहीं है। प्रकाशक ने अपनी ओर से लिखा है कि "लघु आख्यायिकाओं की भाँति इस ग्रन्थ में पढ़ें भारतीय विज्ञान का संगीत जैसा मधुर और रमणीय इतिहास। इन्हें एक परिप्रेक्ष्य में आधुनिक वैज्ञानिक आख्यानों का भी कोई व्यतीत संस्करण कहा जा सकता है।" किन्तु इस पुस्तक में आधुनिक विज्ञान की प्रगति के संदर्भ में भारत की अतीतकालीन वैज्ञानिक उपलब्धियों की चर्चा बहुत ही सीमित तौर पर की गई है। कुल दो तीन लेखों में ही इसकी चर्चा हुई है। अन्य लेख दूसरे विषयों पर लिखे गए हैं।

विभिन्न विषयों पर लिखे गए लेखों का वर्गीकरण मुख्यतः तीन विभागों में किया जा सकता है। पहले विभाग में विज्ञान से संबंधित लेख आते हैं—जैसे, प्राचीन ऋषियों की आधुनिक काल-भावना' तथा 'भारत में क्वैन्टम सिद्धांत का प्रथम प्रवर्तन।" दूसरे विभाग के अन्तर्गत संस्कृति एवं साहित्य से सम्बन्धित लेख हैं—जैसे "दिङ्नागाचार्य और उनकी कुन्दमाला" 'शब्दशक्ति की सीमा और मन्त्रशक्ति' "मुसलमानों का संस्कृत प्रेम' आदि। तीसरे विभाग में इतर विषयों पर लिखे गए निबंध हैं—जैसे, 'प्राचीन भारत में खेलकूद और मनोरंजन," "भारत की प्राचीनतम बहुमुखी योजनाएँ" "धूप-सरोवर की खुदाई" आदि। इस प्रकार पुस्तक में कुल अट्ठारह निबंध हैं जिनमें से अधिकांश लेख लेखक द्वारा व्यक्त किए गए 'हेतु' से च्युत हैं। अगर कोई संबंध है भी तो सिर्फ इतना ही कि इन लेखों का विषय 'बीते हुए कल' का है' जो आज पढ़े जाने पर हममें "ऐसा कभी हुआ था" का बोध उत्पन्न करा सकें। आधुनिक संदर्भ और वैज्ञानिक विश्लेषण दोनों छूट जाते हैं। इनके अभाव में हमारा विस्मय मात्र सतही होकर रह जाता है। यों इसमें भी संदेह किया जा सकता है कि क्या वास्तव में ये लेख ऐसे प्रामाणिक तथ्यों को लेकर और ऐसी युक्तियों और तर्कों को देते हुए लिखे गए हैं कि हम भारत के प्राचीन वैभव में अपना विश्वास व्यक्त कर सकें, उसके प्रति अपना आग्रह जता सकें। अपनी संस्कृति के प्रति आग्रह तो उचित है, किन्तु अगर हममें एक ऐसा पूर्वाग्रह हो कि हम आधुनिक वैज्ञानिक प्रगति के हर नए चरण को अपनी संस्कृति और धर्मग्रंथों में बीजरूप में विद्यमान मानें, तो वह निश्चित ही अनुचित है। किन्तु कुछ इस तरह का पूर्वाग्रह भी लेखक में है। "भारत में कोयला—सदोहन उद्योग" नामक एक लेख में लेखक ने शतपथ ब्राह्मण का एक उद्धरण देते हुए कहा है कि "अग्निम वाक्य से"—(यानी कोयले से अङ्गिरस की और तदनन्तर अन्य जीवों की उत्पत्ति हुई)—'यह पूर्णतया स्पष्ट है कि यहाँ पत्थर की विविध अवस्थाओं का अति संक्षेप में निरूपण है, साथ ही उसमें जीव जन्तुओं की सृष्टि की वैज्ञानिक व्याख्या का भी सूक्ष्म वट-बीज समाहित है।" मुझे न तो यह "पूर्णतया स्पष्ट" है और न मुझे इसमें "सृष्टि की वैज्ञानिक व्याख्या" का कोई बीज नज़र आता है। इस तरह का पूर्वाग्रह और आमतौर से किसी बात को वैज्ञानिक कह देने की उदार-वृत्ति कई लेखों में देखी जा सकती है। स्थानाभाव के कारण यहाँ उनके उदाहरण दे पाना संभव नहीं है।

चूँकि लेखक की दृष्टि पूर्वाग्रहों से बँधी हुई है, इसलिए तर्कप्रक्रिया में भी एक प्रकार

का ढीलापन है। उदाहरण के लिए कोयला के निर्यात अथवा लौह-स्तम्भों आदि के ढाले जाने की बात को लेकर यह तो कहा जा सकता है कि इन प्रसंगों में कोयला वस्तुतः 'पत्थर का कोयला' है ; परंतु अगर हमारे प्राचीन साहित्य में कोयले का कोई जिक्र आया तो उससे लकड़ी के कोयले के बजाय पत्थर के कोयले का अर्थ समझना और फिर यह कहना कि हम उस अतीत में भी कोयला-संदोहन करते थे, ठीक तर्क नहीं है। इसी तरह कुछ निबन्धों में लेखक द्वारा दिए गए तर्क विरोधाभास उत्पन्न करते हैं। उदाहरण के लिए "नवीनतम वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में मूर्तिपूजा की छानबीन" नामक लेख में लेखक ने वरदान माँगने के संबंध कहा है कि, 'हमारी मनौती की मस्तिष्क की विद्युत चुम्बकीय तरंगे प्रतिमा से परिवर्तित होकर हमारी संकल्पशक्ति या इच्छाशक्ति को और सुदृढ़ तथा उर्ज्वसित बनानी है," पर फिर भी यह कहा है कि मनौती करने या वरदान मांगने का निबंध किया जाना चाहिए क्योंकि गांधीजी तथा 'उच्चकोटि के धर्मग्रंथों ने ईश्वर से कुछ मांगने का निषेध किया है। अगर इस तरह का कार्य हमारी इच्छाशक्ति को बलवती बनाता है तो उसका निषेध क्यों किया जाना चाहिए, इसकी व्याख्या समुचित तौर पर संतोषजनक ढंग से की जानी चाहिए।

लेखों की भाषा बहुत अधिक बोझिल और कृत्रिम है। लेखक द्वारा प्रयुक्त शब्दावली के कुछ वाक्यांश जो मैंने ऊपर उद्धृत किए हैं, उनसे यह बात स्पष्ट हो जाएगी। वास्तव में लम्बे-लम्बे वाक्य हैं और चुने हुए अनेक शब्दों का ऐसा अभाव है जो साधारणतः न तो बोलचाल की भाषा में प्रयुक्त होते हैं और न लिखने में ही। छपाई की अनेक भूलें हैं और दो पृष्ठों का शुद्धि-पत्र पुस्तक के अंत में दिया हुआ है।

लेखों में विशेषकर 'दिङ्नागाचार्य और उनकी कुन्दमाला' शीर्षक के अन्तर्गत लिखे गए दो अच्छे लेख हैं और इनमें लेखक के परिश्रम तथा उसकी अनुसंधानात्मक वृत्ति का परिचय मिलता है। "मुसलमानों का संस्कृत प्रेम" तथा "प्राचीन भारत के भौगोलिक यंत्र "जैसे कुछ निबंध ऐतिहासिक तथ्यों को प्रस्तुत करते हैं और अच्छी तरह लिखे गए हैं। परन्तु ये लेख पुस्तक के नाम के साथ किस न्याय से जुड़े हुए हैं, यह पहले ही बतलाया जा चुका है।

—धारीन्द्र कुमार वर्मा

राजभवन की सिगरैटदानी—लेखक श्रीविनोद शर्मा ; प्रकाशक—ओम्‌प्रकाश, राधाकृष्ण प्रकाशन, रूपनगर, दिल्ली ७ ; पृष्ठ १४० ; मूल्य रु० ३/५०।

प्रस्तुत पुस्तक में श्रीविनोद शर्मा के बीस व्यंग्यात्मक निबंध हैं। पं० श्री नारायण जी चतुर्वेदी ने विनोद शर्मा के नाम से ये व्यंग्य लेख लिखे हैं। चतुर्वेदी जी प्रसिद्ध शैलीकार हैं। शर्मा जी ने साहित्यिक, राजनीतिक, सामाजिक आदि कुछ उल्लेखनीय घटनाओं या समस्याओं को चुन कर बड़ी सरस और व्यंग्यपूर्ण शैली में उन्हें अभिव्यक्त किया है। यद्यपि प्रस्तुत कृति के

सभी लेख उच्चकोटि के नहीं हैं तथापि कुछ व्यंग्यात्मक लेख बहुत अच्छे हैं। उदाहरण के लिए 'दशमलव पचांग', 'नए कर' 'नए रोग' 'समय बचाऊ पत्र', 'नौकरी', 'बोर' 'राजभवन की सिगरेटदानी', 'लाल फीताशाही' व्यग्य लेख देखे जा सकते हैं, जिनमें हास्य और व्यग्य का पूर्ण परिपाक हुआ है। 'निराला और श्रीविनोद शर्मा' नामक लेख संस्मरणात्मक शैली में लिखा गया है फिर भी इसमें हास्य और व्यग्य का पुट स्थान-स्थान पर मिलता है। जैसे—" 'तब ही तो निराला जनमें रहे'। निरालाजी ने छूटते ही कहा 'मामा को पुरानी बातें सब याद हैं।" (पृष्ठ १००) 'राजभवन की सिगरेटदानी' में लेखक ने 'भारत दैट इज इंडिया' के द्वारा जो व्यग्य किया है उससे सभी लोग परिचित हैं। इसमें शर्माजी स्वयं राजभवन की अतिथिशाला के अतिथि हैं, जिसमें उनके सिरहाने के पास 'छोटी मेज पर पीतल की एक प्राचीन भारतीय कलाकृति सिगरेटदानी (एशट्रे) के रूप में रखी थी।" (पृष्ठ ११५) ध्यानपूर्वक देखने पर पता चला कि वह किसी देवालय में काम आनेवाली 'आरती' थी, जिस पर गणेशजी की मूर्ति बनी हुई थी। आज उसकी यह दशा देख कर शर्माजी को दुःख होता है, इसलिए कहते हैं—(गणेशजी) 'देवता होने तथा इस सेक्यूलर विरोधी प्रथ के प्रणयन में सहयोग देने के कारण आप आज के कागजी देवताओं की निगाह में घोर अपराधी हैं। अतएव आप को इस सेक्युलर-युग में दण्ड का भागी होना ही पड़ेगा।' पृ० (११७-११८)।

'बोर' नामक लेख बहुत-ही रोचक है। आजकल समाज में, चाहे वह शिक्षित हो या अशिक्षित, कुछ ऐसे लोग हैं जो अपनी बातें दूसरों को पिलाते जाते हैं। वह व्यक्ति उनकी बात सुनने के लिए तैयार है या नहीं, इसकी परवाह उनको नहीं है। इसमें ऐसे लोगों पर बड़े मार्मिक ढंग से व्यग्य किया गया है। "इस समय आप जल्दी में हैं। अभी तो मैं पूरी बात कह ही नहीं पाया। रात को फिर आऊंगा।" (पृ० ९२)।

आजकल दफ्तरों में जो लापरवाही होती है, साधारण सी बात के लिए फाइलें बनती हैं तथा उन पर सभी अधिकारियों, लिपिकों की टिप्पणी लिखी जाती है और अन्त में परिणाम कुछ नहीं निकलता, 'लाल फीताशाही' में उस पर निर्मम व्यग्य किया गया है, (पृ० १२२-१२३)। 'दशमलव पचांग' में लेखक ने सरकार द्वारा चलाई गई दशमलव प्रणाली की सुविधाओं की ओर इंगित करते हुए कहा है कि यदि दशमलव प्रणाली से हिसाब किताब करने में आसानी होती है तो क्यों नहीं 'उसमें १०० सेकण्ड का एक मिनट, सौ मिनट का एक घण्टा और दस घण्टों का दिन रहे।' (पृ० ११) परन्तु मनोजे के पूछने पर कि यदि ऐसा कर दिया जायगा तो हफ्ते और महीने का क्या होगा। इस पर चतुरी चाचा ने उत्तर दिया—'इसमें क्या कठिनाई है? दस दिन का एक सप्ताह। किंतु दशमलव प्रणाली में सप्ताह तो चल नहीं सकता। उसे 'दशाह' कहेंगे, और दस दशाह यानी सौ दिन का एक महीना तथा दश महीने का एक वर्ष।" (पृ० ११) इस तरह १००० दिनों का वर्ष होगा, परन्तु एक वर्ष में ३६५ दिन होते हैं, अतः यह सम्भव नहीं है।

'नए रोग' में आधुनिक युग में लोगों की बढ़ती हुई प्रवृत्तियों पर व्यंग किया गया है। इस प्रकार की प्रवृत्तियों को रोग का नाम दे दिया गया है। जैसे—'चपराइटिस' चपरासी के अभाव में रोगी को बड़ी बेचैनी मालूम होती है। वह किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है। चपराइटिस का रोगी प्रायः अपाहिज हो जाता है। वह तीन तोले वजन की फाइल भी स्वयं नहीं उठा सकता ." (पृष्ठ २५)। इस प्रकार के रोगों में स्पीचेण्टरी, उद्घाटनोटिस, देश-सेवाइसि इत्यादि हैं जो प्रायः नेताओं में पाए जाते हैं। 'नए कर' में भी लेखक ने सरकार की कर नीति पर व्यंग्य करते हुए कहा है कि यदि सरकार दर्शन-कर, अभिलाषा-कर, शिकायत कर. उत्पादन कर लगा दे तो उसकी द्वितीय पंचवर्षी योजना सफल हो जायेगी। 'नौकरी' में बड़े ही हास्यपूर्ण ढंग से बेकारी की समस्या तथा 'नौकरी' को लेखक ने उपस्थित किया है। "नौकरी वास्तव में सरकार की 'बिटिया' है। देवियों, कविता और स्वर्ग की अप्सराओं की तरह ही उसका यौवन अनन्त हैं। वह कभी बुड्ढी नहीं होती" पृष्ठ ७२। "जिस प्रकार रईस लोग नाऊ-बारियों या पण्डितों के द्वारा वरों की खोज करते थे, उसी प्रकार सरकार ने इस काम के लिए पंडितों की जगह 'पब्लिक सर्विस कमीशन' और नाऊ बारियों की जगह एम्प्लायमेण्ट एक्सचेंज' बना रखे हैं जो प्रत्येक बिटिया के लिए वर खोज कर सरकार को बतलाते हैं कि वह अमुक बिटिया के उपयुक्त है" (पृ० ७२)। इस प्रकार से शर्माजी ने अधिकांश लेखों में वर्तमान समस्याओं को आधार मान कर आधुनिक व्यवस्था पर व्यंग्य किया है। साथ ही उसमें हास्य रस का भी पुट मिला हुआ है। 'कवियों का वर्गीकरण' में पक्षियों के आधार पर कवियों का वर्गीकरण किया गया है।

पुस्तक हास्य-व्यंग्य शैली में लिखी गई है, परन्तु हास्य और व्यंग्य में कहीं-कहीं लेखक सीमा का उल्लंघन कर गया है। कहीं-कहीं भाषा अशिष्ट हो गई है (देखिए पृ० ८८ पंक्ति ७ नीचे से) यहाँ पर मनुष्य और पशु दोनों के लिए एक ही शब्द-प्रयोग करना उचित नहीं जान पड़ता। घोड़ा हाँका जाता है, चलाया नहीं जाता है, (पृ० ९०) क्योंक वह कोई मशीन नहीं हैं जिसे चलाया जायगा। 'चलनी' शब्द (पृ० ८७) भोजपुरी में प्रयुक्त होता हैं, हिन्दी में छलनी का प्रयोग प्रचलित है। इसलिए प्रचलित शब्दों का प्रयोग करना ही अधिक उचित जान पड़ता है।

शर्माजी आधुनिक हिन्दी के व्यंग्य लेखकों में अग्रगण्य हैं। उनकी यह कृति पाठकों का अच्छा मनोरंजन करेगी। उनकी शैली और भाषा परिष्कृत है। शर्मा जी के व्यंग्य-निबंध पढ़ कर सभी लोगों का मनोरजन होगा।

—द्विजराम यादव

अंगरेजी-हिन्दी कोश—लेखक फादर कामिल बुल्के, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, सन्त ज़ेवियर कालेज, राँची, प्रकाशक—काथलिक प्रेस, राँची, १९६८, पृष्ठ संख्या ८९१, मूल्य १५ रुपये।

फादर बुल्के जन्म से बेल्जियम निवासी हैं, भारत में वे कई दशकों से रह रहे हैं। प्रयाग विश्वविद्यालय से हिंदी में एम० ए० तथा डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त की। संस्कृत भाषा और साहित्य के भी वे अच्छे विद्वान् हैं तथा पश्चिम की अनेक भाषाओं के वे गंभीर विद्वान् हैं। अध्ययन के लिए और विद्वत्ता के लिए वे विद्वज्जगत् में समादृत हैं। प्रस्तुत रचना उनके वर्षों के परिश्रम, चिंतन और मनन का परिणाम है।

प्रस्तुत कोश में अँगरेजी शब्दों के विभिन्न अर्थ दिए गए हैं और अर्थ कहीं कहीं संख्या देकर दिए गए हैं। पहले कदाचित् मुख्य और बहु प्रचलित अर्थ दिया गया है, फिर क्रम से कदाचित् कम प्रचलित अर्थ दिए गए हैं। शब्दों के प्रचलित अर्थों को महत्त्व दिया गया है, अत यदि कोई विदेशी शब्द उसी रूप में प्रचलित है तो पहले देवनागरी अक्षरों में वह रूप दिया गया है—जैसे डेकाग्राम तथा लाइसेंस, इसके अतिरिक्त उनका अनुवाद भी दिया गया है यथा लाइसेंस का अनुज्ञापत्र। शब्दों की व्याकरणिक कोटियों का संकेताक्षरों द्वारा उल्लेख किया गया है अर्थों के पश्चात् प्रत्येक शब्द का उच्चारण देवनागरी अक्षरों में दिया है। लेखक ने शब्दों का अर्थ चयन अँगरेजी के प्रसिद्ध कोशों के आधार पर किया है। हिन्दी और अँगरेजी दोनों ही भाषाएं सीखने वालों के लिए यह कोश अत्यंत उपादेय सिद्ध होगा।

कोश अत्यंत प्रामाणिक और महत्त्वपूर्ण होते हुए भी कहीं कहीं लगता है कि इसमें अर्थों की ऐतिहासिक भूमिका स्पष्ट नहीं होती—यथा कुछ उदाहरण लें—सेन्टुरिअन का अर्थ दिया है—शतपति, अर्थ ठीक है, किन्तु ये शतपति रोमन सेना में ही होते थे, यह उल्लेख होने से अर्थ स्पष्ट हो जाता, ग्लैडिएटर का अर्थ दिया है तलवारिया, इतालीय शब्दकोश में इस शब्द की व्याख्या दी गई है जिसका अर्थ होगा—(लैटिन ग्लाडियस्‌से तलवार)—युद्धबंदी, जिन्हें रोमन निर्दयतापूर्ण कसरतें सिखाते थे ताकि वे अपने कौशल को जनता के सामने प्रदर्शित कर सकें।' कोई भी तलवारिया ग्लैडिएटर नहीं कहा जा सकता। यह अर्थ विस्तार लेखक ने नहीं किया है। इस प्रकार के शब्दों के विस्तृत अर्थ देने से, पाश्चात्य संस्कृति के विशेष अर्थ स्पष्ट करने से कोश और भी उपयोगी हो जाता।

कोश की छपाई, सफाई आकर्षक है। मूल्य भी अधिक नहीं है।

पुस्तकालयों, स्कूलों, कालेजों, कार्यालयों और व्यक्तिगत व्यवहार के लिए कोश अत्यंत उपयोगी सिद्ध होगा। हमने अनुवाद कार्य में इस कोश का उपयोग किया है और अबतक अंगरेजी-हिंदी के जितने कोश हमारे देखने में आए हैं उन सबसे डा० बुल्के का कोश अधिक प्रामाणिक और व्यवहारोपयोगी है। हमें विश्वास है कोश का अच्छा प्रचार होगा। डा० बुल्के को इस महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए प्रशंसा की जानी चाहिए।

—रामसिंह तोमर

संपादकीय

महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर का जन्म सार्धशती समारोह

महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के जन्म (सन् १८१७) की सार्धशतवर्ष-पूर्ति के अवसर पर विश्वभारती में इस वर्ष अनेक व्याख्यानों, विद्वत्‌गोष्ठियों तथा कलाप्रदर्शनियों के आयोजन हुए। उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में महर्षिदेव ने इस निभृत स्थान को अपनी तपस्या के लिए चुना था। इस समय जहाँ तरुराजि पूर्ण हराभरा स्थान है, उस समय यह वृक्ष-विहीन मरुप्रदेश था। छातिमतला में जहाँ महर्षिदेव की साधना वेदी है, वहीं उन्हें परब्रह्म की अनुभूति प्राप्त हुई थी, और प्रत्यक्ष अनुभूति को उन्होंने इस प्रकार व्यक्त किया था—

तिनि आमार
प्राणेर आराम
मनेर आनन्द
आत्मार शान्ति।

अर्थात् वे मेरे प्राणों के आराम, मन के आनन्द और आत्मा की शान्ति हैं। छातिमतला स्थित उपासना वेदी पर लगे संगमर्मर फलक पर महर्षि के ये वचन उत्कीर्ण हैं। शान्तिनिकेतन आश्रम की स्थापना का उद्देश्य इसी अंक में प्रकाशित स्व० अजितकुमार चक्रवर्ती के लेख तथा महर्षिदेव के शान्तिनिकेतन से संबंधित न्यासपत्र से स्पष्ट हो सकेगा। शान्तिनिकेतन आश्रम का ही विकसित रूप वर्तमान विश्वभारती है।

पुनर्जागरण काल के प्रसिद्धतम महापुरुषों में महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर का स्थान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। शिक्षा, समाज सुधार, धर्म आदि अनेक क्षेत्रों में उनका योगदान असाधारण है। सन् १९०५ में महर्षि के तिरोधान के अवसर पर कलकत्ता से प्रकाशित होने वाले हिंदी पत्र भारतमित्र ने उनके संबंध में जो लिखा था उसके कुछ अंश हम उद्धृत करते हैं, जिनसे महर्षि के व्यक्तित्व का कुछ आभास मिलेगा—

'वह ब्राह्म समाज के नेता राजा राममोहन के मित्र और शिष्य थे। राममोहन राय के मरने के बाद आदि ब्राह्मसमाज का काम उन्हीं के उद्योग से चलता था। उनमें कई गुण थे, विद्वानों का आदर करते थे और दीन दरिद्रों की सहायता करते थे। बड़े धीर और मेधावी पुरुष थे। जीवन का शेष भाग एकान्त में बैठकर बिताया।

'आर्य समाजियों ने जिस प्रकार स्वामी दयानंद जी को महर्षि की उपाधि दी थी, उसी प्रकार बंगदेश के ब्राह्मसमाजियों ने इनको भी महर्षि की उपाधि दे रखी थी। आश्चर्य नहीं कि इन्हीं की उपाधि की नकल पर दयानंद जी को भी. महर्षि की उपाधि मिली हो कारण यह कि यह दयानन्द जी से उमर में बड़े थे। बहुत दिन से अब हिन्दू किसी को ऋषि और महर्षि की उपाधि नहीं देते, यहाँ तक कि शंकराचार्य जी महाराज भी केवल आचार्य कहलाए। पर

स्वामी दयानद और बाबू देवेन्द्रनाथ का यह उपाधि मिली। यह दोनों महानुभाव सुधारक थे, सुधारक दलों ही से उनको यह उपाधि प्राप्त हुई।'

भारत मित्र की टिप्पणी पर्याप्त विस्तृत है। महर्षि देव के जीवन की जिस उच्छ्वसित भाव से प्रशसा की गई है वह पठनीय है। ससार में रहते हुए भी वे वीतरागी थे। शान्ति की खोज में वे भ्रमण करते रहे, हिमालय गए, किन्तु अंत में उन्हें, आज शातिनिकेतन में जिस स्थान पर छातिमतला है, वहाँ परमानुभूति प्राप्त हुई। भारतमित्र की उक्त टिप्पणी में इस प्रसग में कहा गया है आप बोलपुर नामक स्थान में जाकर बहुत काल तक योग द्वारा ब्रह्मोपासना करते रहे। बोलपुर एक रमणीक स्थान है। हमें यह स्थान देखने का सौभाग्य हुआ है जहाँ एक वृक्ष के नीचे महर्षि आसन लगाकर परमपिता परमात्मा की आराधना करते थे। यद्यपि उस स्थान पर अब एक बड़ी अट्टालिका बनी है। एक शीश महल भी बना हुआ है, परन्तु हमें तो उसी वृक्ष के नीचे स्थान रमणीक प्रतीत होता था।'

'वहां एक पुस्तकालय भी है, जिसमें हाथ की लिखी पुस्तकें बहुत हैं। वहां रहकर अन्य लोग भी ईश्वर चिन्तन तथा पुस्तक अध्ययन कर सकते हैं। वहां मासाशन तथा मदिरापान बिलकुल निषेध है।

'महर्षि अपना जीवन धार्मिक विचार में ही व्यतीत करते थे। ईश्वर चिंतन उनका मुख्य कर्तव्य था। शास्त्रों को विचार करना यही उनका काम था। एक योगी थे और सब लोग उनका आदर-सत्कार करते थे। आचरण सदैव शुद्ध और पवित्र रहा। मद्यमांस से पृथक् साधारण रहन तथा स्वच्छ वसन आपको अत्यत प्रिय था। आप एक बड़े परिवार के कर्ता थे, आपके घर में विद्या का प्रचार ऐसा था कि प्राय किसी परिवार में वैसा न होगा। इसका मुख्य कारण यह था कि महर्षि स्वय विद्याप्रिय थे।

महर्षि के साहित्य तथा विचारों को हम पत्रिका के पाठकों को समय समय पर देंगे। पुण्यश्लोक महर्षि देव का हम श्रद्धापूर्वक स्मरण करते हैं।

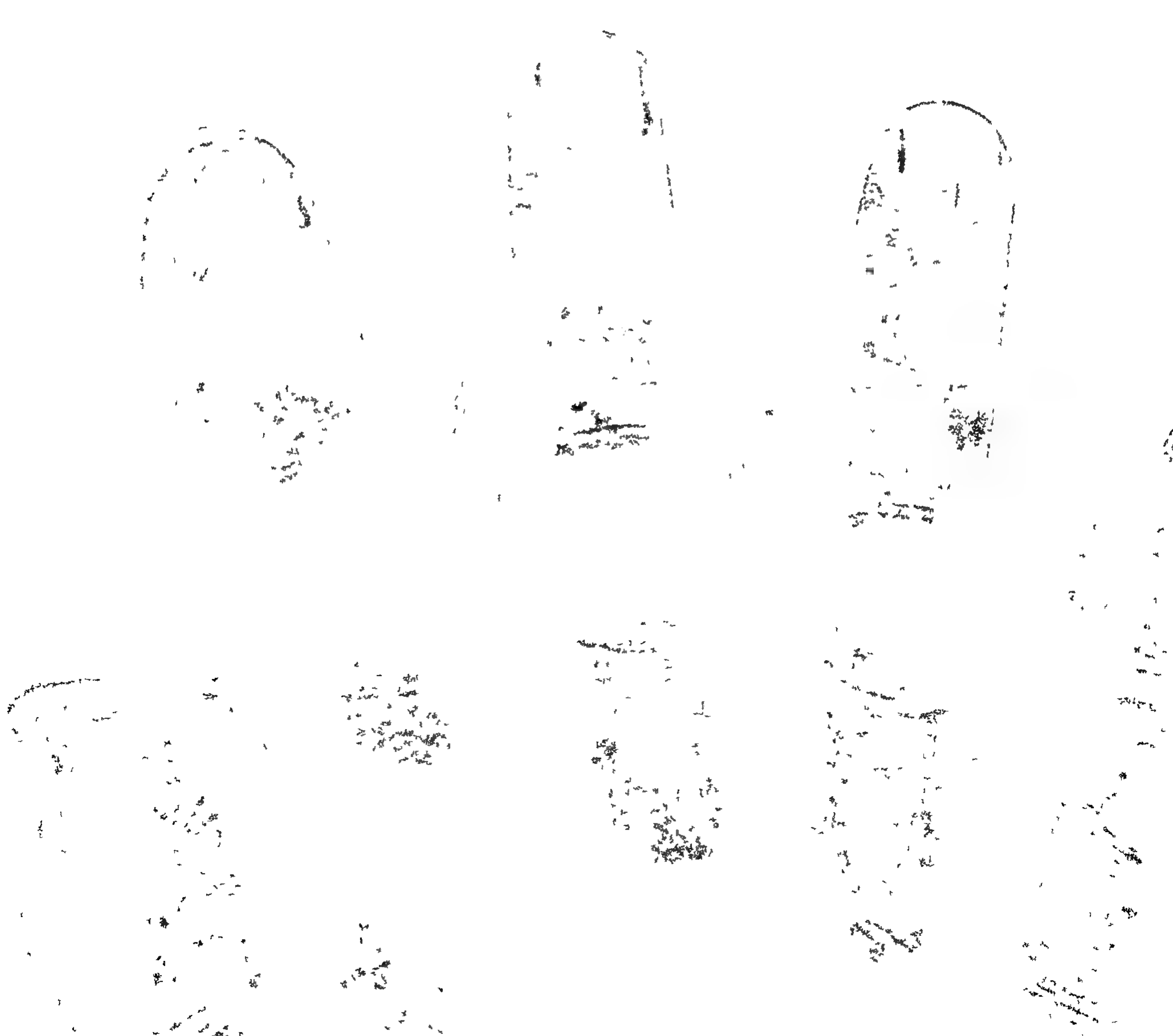
स्व० प माखनलाल चतुर्वेदी

गत ३० जनवरी को 'एक भारतीय आत्मा' के नाम से प्रसिद्ध प० माखनलाल चतुर्वेदी का निधन हो गया। अपनी वाणी से उन्होंने अनेक पीढ़ियों को उत्साह से अनुप्राणित किया और आनेवाली पीढ़ियाँ उनकी कृतियों से अनुप्राणित होती रहेंगी। राष्ट्र के लिए और साहित्य तथा सस्कृति के लिए जो उन्होंने किया उसे आनेवाली शतियाँ भुला नहीं सकेंगी। चतुर्वेदी जी शक्तिशाली कवि थे और बहुत ही शक्तिशाली वक्ता। प्रयाग विश्वविद्यालय में जब प्रस्तुत लेखक विद्यार्थी था तो एक बार चतुर्वेदी जी पधारे थे। उस समय उपकुलपति स्व० पं० अमरनाथ जी झा थे। उन्होंने चतुर्वेदी जी का परिचय देते हुए सुमधुर गभीर वाणी में जो कुछ कहा था वह मानो आज भी कानों मे गूँज रहा है—'भारतीय आत्मा' को कौन नहीं

जानता ? उनके जैसा प्रभावशाली वक्ता उत्तरी भारत में दूसरा नहीं है'— और सचमुच चतुर्वेदी जी के ओजस्वी भाषण को सुनकर झा जी के शब्दों में किंचित् भी अतिशयोक्ति नहीं प्रतीत हुई। धाराप्रवाह, परिष्कृत, अलंकृत साहित्यिक शैली में बोलने वाला ऐसा वक्ता हिन्दी जगत में दूसरा सुनने को नहीं मिला। कुछ श्रेष्ठ भाषण कर्ताओं में बाबू श्यामसुंदर दास तथा आचार्य नरेन्द्र देव जी का नामोल्लेख किया जा सकता है किन्तु चतुर्वेदी जी उनसे भी ओजस्वी वक्ता थे। सहज स्वभाव और सात्त्विक वृत्ति के चतुर्वेदी जी जैसे पुण्यश्लोक व्यक्ति का हमारे बीच से उठ जाना हमें उदास बना देता है। हम उनकी स्मृति में विनम्र श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हैं।

इसी बीच हिंदी के अनेक गण्यमान्य साहित्यसेवी हमारे बीच से चले गए। इन सभी के प्रति हम श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हैं।

—रामसिंह तोमर



हिन्दी त्रैमासिक **विश्वभारती पत्रिका** के संबंध में विवरण

फार्म चार—नियम संख्या आठ

१	प्रकाशन का स्थान—	शान्तिनिकेतन, बीरभूम ।
२	प्रकाशन की आवृत्ति—	त्रैमासिक ।
३-४	मुद्रक तथा प्रकाशकका नाम—	पीयूषकान्ति दासगुप्त ।
	राष्ट्रीयता—	भारतीय
	पता—	शान्तिनिकेतन, जिला बीरभूम ।
५.	संपादक का नाम—	रामसिंह तोमर ।
	राष्ट्रीयता—	भारतीय ।
	पता—	शान्तिनिकेतन, जिला बीरभूम ।
६	मालिकों का नाम —	विश्वभारती विश्वविद्यालय, शान्तिनिकेतन पश्चिम बंगाल ।

[...]सगुप्त यह घोषित करता हूँ कि ऊपर दिए गए तथ्य मेरी जानकारी तथा [...]सार हैं ।

पीयूषकान्ति दास गुप्त